शीराज़ा

हिन्दी

जम्मू एण्ड कश्मीर अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

अप्रेल-जून १९७९

४५

शीराज़ा
हिन्दी

प्रमुख सम्पादक :
मुहम्मद यूसुफ टेंग

सम्पादक :
रमेश मेहता

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़, जम्मू

वर्ष : १५] अप्रेल-जून १९७९ [अंक : १

सम्पादकीय पत्र-व्यवहार

रमेश मेहता

सम्पादक : **शीराज़ा हिन्दी**

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़ ,

नहर मार्ग, जम्मू

फोन नं० : ५०४०

वार्षिक शुल्क : आठ रुपये यह अंक : दो रुपये

जे० एण्ड के० अकादमी ऑफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज,
स्वत्वाधिकारी के लिए श्री मुहम्मद यूसुफ टेंग, सचिव द्वारा
प्रकाशित एवं अमर आर्ट प्रेस, मोती बाज़ार, जम्मू में मुद्रित

शीराज़ा हिन्दी

पूर्णांक : ४४

वर्ष : १५] अप्रेल-जून १९७९ [अंक : १

अनुक्रमणिका

कविताएं

परिचर्चा

स्थायी स्तम्भ

आज की कविता : रचनात्मक नवीनता का प्रश्न

—डॉ० विनय

इधर कविता के विषय में सोचते और लिखते हुए समकालीन कविता में रचनात्मक नवीनता का प्रश्न कई तरह से मेरे सामने आता रहा है। मैं समझता हूं कि कविता लिखने से ज्यादा खतरे वाली बात, कविता पर बातचीत करना है। इसका कारण है कि कविता पर कितना कुछ भी कहा जाये, बहुत कुछ कहने के लिये शेष रहता है। जिस तरह से कविता पारिवेशिक दवाव में अपना रास्ता बनाती चलती है उसी तरह से आलोचना को भी एक प्रक्रिया से गुज़रना होता है। इस तरह कविता और आलोचना दोनों ही अपनी प्रासंगिकता ढूंढते हैं। इस खोज में कविता की टकराहट सामाजिक यथार्थ से होती है और आलोचना की टकराहट कविता और सामाजिक यथार्थ के उस बिन्दु से होती है, जिससे कविता की प्रासंगिकता, स्थायित्व और सामाजिक सरोकारों को टटोला जाता है। मूलत: यह दायित्व कवि का है कि वह अपने रचनात्मक विधान में नवीनता लाए या नवीनता को रचनात्मक विधान में इस तरह चित्रित करे कि अब तक की रचनात्मकता में उसकी अपनी पहचान उभर सके। नवीनता मौलिकता का पर्याय नहीं—वैसे मौलिकता कोई ऐसी चीज़ नहीं जिसका स्वरूप पहले किसी 'हुये' से अलग हो। मौलिकता कवि की दृष्टि में होती है। वैसे दृश्य भी कभी-कभी ऐसे सामने आते हैं जिन्हें विगत दृश्यों की तुलना में नवीन कहा जा सकता है, पर विशिष्ट काव्यात्मक अभिव्यक्ति मौलिकता की चिन्ता किए बगैर अपने समय की यथार्थ स्थिति के बीच होती है और उसी में उसकी अपनी सही पहचान भी। एक स्थान पर आजकी कविता की मानसिकता की पड़ताल करते हुए मैंने लिखा है—साहित्य रचना एक निरन्तर संघर्ष है, और यह संघर्ष समशीतोष्ण वातावरण में उतना तीव्र नहीं होता जितना विरोधी परिस्थितियों के बीच। पिछले दिनों एक विशेष प्रकार के राजनैतिक दबाव ने रचनात्मक ऊर्जा को एक चुनौती दी थी, चुनौती कितनी स्वीकार की गई, कितनी उससे कन्नी काटी गई, इस पर यहां विचार करना हमारा ध्येय नहीं। किन्तु इधर की कविता पर बात करते हुए सामान्य रूप से यह तथ्य सामने आता है कि रचनाकार ने अनेक स्तरों पर इस चुनौती को

स्वीकार करने का आभास दिया। पिछले वर्ष के उल्लेखनीय कविता संग्रहों, संकलनों में हम देखेंगे कि समकालीन कवि अनेक स्तरों पर रचनात्मक संघर्ष को धार दे रहा है। इन विभिन्न स्तरों में व्यवस्था और मनुष्य का संघर्ष, अपनी पहचान और अस्मिता खो जाने का भय और उसे पाने के लिये अपनायी गयी मूल्य-दृष्टि, अवमूल्यन के खतरे में पड़ी सांस्कृतिक चेतना के प्रति सतर्कता, प्रगति के बड़े-बड़े दावों के नीचे ठिठुरते, भूखे एक विशाल मानव समुदाय की उपस्थिति के कारण उभरता आक्रोश, साहित्य और समाज की परस्परता, सम्बद्धता के निर्णायक दौर में राजनैतिक सम्प्रदायवाद के खिलाफ बोला जाने वाला जिहाद—तात्पर्य है कि कविता का अस्तित्व जिन जिन स्तरों पर लुप्त कर देने की कोशिश की जाती रही, कविता उन सभी स्तरों पर अपने शक्तिशाली रूप में होने का प्रमाण देती रही।

कविता की यह शक्तिमत्ता वर्तमान स्थितियों के घात-प्रतिघात से जन्म लेकर उनके विकल्प में या तो एक नया भावबोध देती है या जड़ भावबोध के विरोध में अपना संघर्ष तीव्र करती है।

नई कविता की शुरूआत जड़ भाव-बोध के विरोध में हुई थी। उसमें एक ऐसी पीढ़ी का रचनात्मक संघर्ष और सरोकार शुरू हुआ था जिसने मानव मूल्यों के घेरों के बीच उन्हें टूटते हुए अनुभव किया और उससे तीव्र दंश का आभास उस मन:स्थिति में किया जिसमें टूटने की प्रक्रिया को साहस के साथ स्वीकार न करने की विवशता थी। यद्यपि 'अन्धा युग' जैसी कृतियों में मिथ को आधुनिक संदर्भ देकर इस टूटने को और व्यक्ति के अमानवीयकरण को सर्जनात्मक साहस के साथ स्वीकारा गया था, किन्तु यह कार्य युग में व्याप्त यथार्थ के अनुपात में कम लोगों के द्वारा किया गया। उस समय भी कविता में एक विशेष प्रकार का रोमानी आभिजात्य था जिसके दर्शन सप्तकों की रचनाओं और तत्कालीन अन्य कविता-संग्रहों में हो जाते हैं लेकिन यह रोमानी आभिज़ात्य भी रचनात्मक नवीनता की ओर आने का एक कदम ही सिद्ध हुआ। और इस कदम की एक कड़ी मुक्तिबोध की कविताएं हैं जिनमें भाषागत आभिजात्य के होते हुए, शिल्पगत रहस्यात्मकता के साथ नयेपन का रचनात्मक विधान हुआ। प्रश्न उठ सकता है कि मुक्तिबोध का नयापन क्या है? या 'अन्धायुग' की नवीनता क्या है? इसके उत्तर में मैं कहना चाहूंगा कि अन्धायुग, में एक दृढ़, चरित्रवान और मूल्यगर्भित व्यक्तित्व को अमानवीय होते दिखाया गया है। अश्वत्थामा की अमानवीयता किसी साहसिक अभियान क परिणाम नहीं थी, वह एक ऐसी निरन्तर आदर्शवादिता के खोखलेपन के बीच प्रक्रिया के रूप में पनपी थी जिसे इसी रूप में शेष होना था। एक 'एक्सट्रीम' के विरोध में दूसरी 'एक्सट्रीम' के जन्म का यह एक सांस्कृतिक, ऐतिहासिक और मनोवैज्ञानिक रूप था—काव्यात्मक रोमानी आभिजात्य के आवरण को चीर कर व्यक्ति मन के यथार्थ की खुली अभिव्यक्ति थी।

गान्धारी का कथन सामाजिक विसंगतियों के बीच उत्पन्न व्यक्ति के अमानवीय हो जाने की प्रक्रिया की ही अभिव्यक्ति करता है—

धर्म, नीति, मर्यादा यह सब हैं केवल आडम्बर मात्र
मैंने यह बार बार देखा था।
निर्णय के क्षण में विवेक और मर्यादा
व्यर्थ सिद्ध होते आए हैं सदा
हम सब के मन में कहीं एक अंध गह्वर है
बर्बर पशु, अन्धा पशु वास नहीं करता है।

तत्कालीन सामाजिक परिवेश में व्यक्ति-मन की यह नयी पहचान थी और यहीं पर भारती की रचनात्मकता की नवीनता लक्षित होती है। इस काव्य-संवेदना में मन, शरीर और आत्मा की विभाजक आदर्शवादी रेखायें समाप्त घोषित की गईं और ऐतिहासिक साक्ष्य में द्रोण, भीष्म, कर्ण, युधिष्ठिर के आदर्शवादी दोहरेपन के विरुद्ध एक अमानवीय व्यक्तित्व को प्रतिष्ठित किया गया। तो क्या इसे अमानवीयता का स्तवन माना जाए ? नहीं। यह उस सर्जनात्मक दायित्व की रचना है जिसने पूरे सांस्कृतिक परिवेश को खोखले आदर्शों के नारों के बीच विघटित होते देखा और जरूरत समझी कि आदर्शों के परम्परागत विधान को एक रचनात्मक आघात दिया जाय। ऐसी रचनाधर्मिता में नयेपन का विधान उसकी अलग पहचान बना देता है।

मुक्तिबोध में नयेपन का विधान रचना प्रक्रिया के उस बिन्दु पर लक्षित होता है जहां वे सम्पूर्ण सामाजिक, राजनैतिक, आर्थिक विसंगति के बीच संघर्षरत मानव की अस्मिता का प्रश्न उभारते हैं। लेकिन भाषा के स्तर पर मुक्तिबोध अत्यन्त दुरूह हो जाते हैं। इसका कारण है आन्तरिक जटिलता और वस्तुगत जीवन दृष्टि के बीच बहुत दिनों तक एक साफ दृष्टि पाने में असफलता। पर उन्होंने रचनात्मक नवीनता के कई और स्तरों का भी स्पर्श किया। इससे उनका काव्य समकालीनों की दृष्टि में उनकी मृत्यु से पूर्व उतनी प्रतिष्ठा नहीं पा सका जितना और कारणों से मृत्यु के बाद।

इस वाक्य परिदृश्य में अन्य रचनाकार अपनी अलग पहचान बनाने में इसीलिये सक्षम नहीं हुए कि उन्होंने युग के नये (अर्थात् तत्कालीन) सामाजिक यथार्थ का विशिष्ट रचनात्मक उपयोग नहीं किया। कुंवर नारायण, नरेश मेहता, जगदीश गुप्त, दुश्यन्त आदि ने मिथक के माध्यम से नयी काव्यगत प्रासंगिकता को बरकरार रखने की कोशिश की; विशेषकर जगदीश गुप्त ने शम्बूक में, लेकिन अपने युग की मानसिकता की सटीक और तल्ख अभिव्यक्ति नहीं हो पाई। कारण वही रहा, रोमानी आभिजात्य का प्रभाव। इस का एक और उदाहरण उन रचनाओं में मिलता है जिनमें अस्तित्ववादी भावनायें—बिना किसी सामाजिक क्रूरता की पृष्ठभूमि के—अभिव्यक्त की गई हैं। थोड़ी देर के लिये हिन्दी कविता में इस स्थिति में ताज़गी का अनुभव किया गया, पर जल्दी ही यह स्थिति चुक गई—क्योंकि इसकी रचनात्मकता में युगीन प्रासंगिकता के नयेपन की समृद्धि न होकर मात्र मानसिक ऊहापोह का आद्धिक्य था।

इसमें कोई संदेह नहीं कि नयी कविता के बाद अकविता ने रचनात्मक नवीनता का परिचय दिया। स्थितियां भी सामान्यता वैसी नहीं थीं। जो भी बदलाव हुआ था, उसका सर्जनात्मक उपयोग शीघ्र होने की कोई गुंजाइश नहीं थी। नई कविता के युग से ही प्रगतिशील कविता की धारा ने एक विचारधारा के अन्तर्गत सामाजिक वदलाव की रचनात्मक कोशिश की। लेकिन जहां यह कोशिश पार्टी निर्देशन से मुक्त सहज जीवन दर्शन के तहत की गई वहां कथा और शिल्प दोनों में नयापन भी रहा और काव्यात्मकता की भी रक्षा हुई। किन्तु शेष कविता नारेवाजी वनकर प्रभाव हीन हो गई—इस नारेवाजी का नवीनतम उदाहरण 'रास्ता इधर से है' संकलन की कविताओं में देखा जा सकता है। प्रगतिशील कवियों के सामने इतिहास का खण्डित सत्य, वर्तमान की विसंगति और संक्रमणशीलता और वर्तमान मानव की अनिश्चयात्मकता का गहरा कोहरा था। इसे जिस सर्जनात्मक मुक्तता और ईमानदारी से लिया जाना चाहिये था, नहीं लिया गया। इन स्थितियों से बना आज का मानव कविता में प्रतिष्ठित नहीं हो सका और विचारधारा हावी होती गई। पर जल्दी ही विचारधारा के पक्षधर कवियों ने जड़ता से पीछा भी छुड़ाया जैसे शमशेर, केदारनाथ अग्रवाल आदि ने। किन्तु इन के साथ आई नई पीढ़ी ने 'कन्डीशन्ड' होकर रचना धर्म निभाने की कोशिश की जिससे न तो अच्छा साहित्य सामने आया और न जनवादी आन्दोलन को गुणात्मक लाभ मिला। तव नवीनता के सही रचना संदर्भ सामने आ ही कैसे सकते थे? यहां सबसे बड़ी गलती यह हुई (जिसे कमिटेड रचनाकार मानने को तैयार नहीं) कि भारतीय जनमानस के लिये जिस कविता की रचना हो रही थी, उसमें भारतीय जनमानस की मानसिकता ही गायव थी।

प्रत्येक कवि जानता है कि वह राजर्नीतिक मोर्चे का सिपाही नहीं है। फिर भी कविता में राजनैतिक कार्यकर्त्ताओं की घुसपैठ इतनी हुई कि सृजन धर्म और राजनीति धर्म का भेद मिटाकर सृजन को राजनीति का अनुयायी बनाने का अभियान चलाया गया। फलतः उभारने वाली पीढ़ी में कोई भी नेता राजनीति की ऊंचाई स्पर्श कर पाया, न साहित्य की।—सामाजिक, सांस्कृतिक स्तर पर जनमानस के वास्तविक टकराव को जिस प्रकार की सर्जनात्मक भूमिका से व्यक्त करना चाहिये था, वह भी नहीं हो पाया। यह जनवादी कविता की ही नहीं, जनवादी आन्दोलन की भी विफलता है कि सिद्धान्त की जड़ता इतनी हावी हो गई कि उस जनता का सही अध्ययन किया ही नहीं गया, जिसकी भलाई के लिये सिद्धान्त को व्यवहार में लाना था। जबकि परम्परागत जड़ संस्कारों, आर्थिक वैषम्यों और मानसिक रिक्तता से युक्त भारतीय जनता को इन सबसे मुक्त करने के लिये जीवनगत व्यवहार और रचनात्मक धर्म दोनों की सख्त जरूरत थी।

नई कविता के राजनीति विरोध को जिस रूप से प्रतिबद्ध लेखकों ने गलत रूप से लिया और उसे बदलाव की राजनीति का विरोधी या वामपंथी राजनीति का विरोधी बताकर उस पर आक्रमण किया उसके विस्तार में न जाकर इतना कहना चाहूंगा कि वह एकांगी

वामपंथी राजनीति या समाजवादी विचारधारा के अन्तर्विरोधों का विरोध था जहां कथनी और करनी में लम्बा फासला था और साहित्य को राजनीति का अनुचर बनाने की साज़िश थी। साहित्य मूलतः आत्मोपलब्धि है, फिर वह चाहे दर्शन के क्षेत्र में, वैज्ञानिक यथार्थवाद के क्षेत्र में हो—कवि के आत्म का निषेध कर, उस पर अंकुश रखकर किसी युग प्रभावी रचना की आशा करना कितना बेमानी है—यह पिछले तीस साल के हिन्दी-साहित्य के नामों, रचनाओं से देखा जा सकता है। प्रतिबद्ध लेखक, विचारक रचना की स्वायत्तता को गलत अनुभवों और मध्यवर्गीय संसार की कल्पना का जाल कह कर अपना आक्रोश व्यक्त करता है। जब सच यह भी है कि प्रतिबद्ध राजनेता 'सामाजिक बदलाव की वांच्छा' की अद्वितीयता में स्वतंत्र चेता लेखन को पार्टी अनुशासन में सीमित करना चाहता है। यह दो अतिवाद हैं—जिनसे सही रचनाकार हमेशा बचता रहा है।

मैं यह भी मानता हूँ कि नई कविता की आभिजात्य सीमा को अकविता ने राजनीति के स्तर पर नहीं—सामाजिक जड़ मान्यताओं के स्तर पर तोड़ा। जगदीश चतुर्वेदी, सौमित्र मोहन धूमिल, राजीव सक्सेना, राजकमल चौधरी, श्याम परमार ने बदली हुई परिस्थितियों में कविता के नये रचनात्मक स्तर उपस्थित किये। मुक्ति प्रसंग, इतिहास हन्ता, कविता कविता से बाहर, लुकमान अली—जैसी रचनाओं से न केवल मिथ्या सीमा खण्डित हुई बल्कि कविता ने जीवन की भीतरी तहों पर आक्रमण करके एक सर्जनात्मक दायित्व को निभाया।

अकविता ने वास्तविक अर्थों में जिये जाने वाले जीवन को कवितात्मक अभिव्यक्ति दी। लुकमान अली की पंक्तियां द्रष्टव्य हैं—

वह बाहर लुकमान अली है और भीतर अंधा
तहखाना। वह तहखाने की फन्तासी में सभी
कुछ देख रहा है।
वह सीढ़ियों से उतरते हुए नब्ज टोह रहा है
जिसे आप मनोरोग कहते हैं।
वह उसे देश का दुर्भाग्य कहता है।

यहां पर जीवन की विसंगति रचना प्रक्रिया का अविभाज्य अंग बनकर उभरी है। वह-किसी विचारधारा के समान आरोपित और चिपकाई हुई नहीं लगती। अकविता का रचनात्मक नयापन उन भयावह प्रतीकों, बिम्बों में व्यक्त हुआ है, जो कविता में किसी फैशन के तहत नहीं आए बल्कि युग संदर्भ की सटीक अभिव्यक्ति करते हुए काव्य-चेतना के अभिन्न अंग के रूप में आए हैं। जगदीश चतुर्वेदी की कविता की कुछ पंक्तियां देखें—

देश एक लंगड़ाता वृद्ध मरीज .... देश-प्रेम एक अय्याशी का
दिया हुआ महामंत्र। दुखती है कोई कनपटी की नस और
बाजुओं में रक्तपात की इच्छा पनपने लगती है। एक पाखण्ड

का सिर फट जाता है और पैदा होते हैं असंख्य रीछ, पालतू कुत्ते, चिमगादड़ और वनबिलाव। कोई नहीं है टूटते आकाश के बीच साहस के साथ खड़े रहने वाला सिपह-सालार……सब हो गए हैं जनखे या तमाशबीन या मक्कार !

यहां इस कविता का बिम्ब-प्रतीक-विधान मनुष्य के मनुष्य न रह जाने की यातना, क्रोध, उपेक्षा की भावना व्यक्त करता है। भारतीय जनमानस ने स्वतंत्रता के बाद अपने सुख-चैन की जो तस्वीर कल्पित की थी, उसके टुकड़े भारतीय राजनीति ने निर्ममता से किए थे। उसी प्रक्रिया में मनुष्य के भीतर एक सधा हुआ मक्कार और डरा हुआ नपुंसक बैठ गया था। यहां पर सारे बिम्ब-प्रतीक सार्थक हैं। यहां कविता में कुछ पाने की चेष्टा के स्थान पर जो कुछ है उसे निर्ममता से व्यक्त करने की ईमानदारी दिखाई देती है।

आजकी कविता का प्रगतिशील स्वर वहां पर अत्यन्त सशक्त रूप में उभरा है—और सम्पूर्ण रूप से कविता-विधान के अन्तर्गत व्यक्त हुआ है, जहां कवि ने विचारधारा की जड़ता से ग्रसित होने से इन्कार कर दिया। श्रीराम वर्मा, विष्णुखेर, मणि मधुकर, मानबहादुर, राजकुमार कुंभज, कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह की कविताओं में विचारधारा की जड़ता से मुक्त काव्य संवेदना की अभिव्यक्ति हुई है। श्रीराम वर्मा के विषय में मैंने एक स्थान पर लिखा है—

श्रीराम वर्मा की काव्यानुभूति में मनुष्य हो जाने की वांच्छा प्रबल रूप से व्यक्त हुई है। वे सामाजिक यथार्थ को केवल उसके विसंगत रूप में ही नहीं देखता उसके पीछे दरारहीन मनुष्यता को भी देखते हैं, तभी वे कहलाते हैं—'किन्तु जिस दिन दृष्टि विनयी, पंखुड़ी का पात्र होती है, दृष्टि उस दिन समय बनती है।' दृष्टि के समय बनने की जिस प्रक्रिया का संकेत यहां किया गया है, वह एक ऐसे कवि के द्वारा ही हो सकता है, जो कवि कर्म को पूरी गम्भीरता और दायित्व के साथ लेता हो। श्रीराम की कविता सामाजिक राजनैतिक षडयंत्र के खिलाफ मनुष्य की समझ की कविता है—इसमें संदेह नहीं। क्योंकि मनुष्य की कथा वैज्ञानिक ज्वालामुखियों में नहीं, इस पैरों तले की घास में है।'

लेकिन कुछ लोग हैं जो केवल ज्वालामुखियों की बात करते हैं—स्वयं चाहे वे ठंडी हवा का आनन्द लेते हों। अनेक छद्म वामपंथी, मानसिकता से परम्परावादी जातिवादी लेखक इसी दुमुंहे जीवन को जी रहे हैं। यदि वामपंथी बड़बोलापन और उससे उत्पन्न शाब्दिक चमत्कार, गुरिल्ला लड़ाई के 'फेक' अनुभव की कविताएं देखनी हों तो 'कबन्ध' प्रस्तुत है। विश्वम्भर नाथ उपाध्याय के इस संग्रह में अनुभव की सहजता से हीन बंधे-बंधाये, शुरू और अन्त वाले फार्मूले की कविताओं को संकलित किया गया है। आजके ज़माने में क्रान्ति की बात करना, प्रगतिशील कहलाना काफी आसान हो गया है। जो ज़रा सा पेट, मज़दूर की बात कर दे वही क्रांतिकारी हो जाता है और शेष प्रतिक्रियावादी। उपाध्याय जी की कविताओं का शाब्दिक चमत्कार अपने वहाव में वह बिन्दु भी खो देता है जिससे सही शत्रु की पहचान की जा सके। क्योंकि हम देख रहे हैं कि कितनी तेज़ी से विश्वमंच पर या अपने ही देश में शत्रु और मित्र के कोण बदल रहे हैं।

पिछले डेढ़ दो दशकों से सामान्यत: कविता का मिजाज़ संघर्ष का रहा है। इस संघर्ष को प्रतिबद्ध कवियों ने भी वाणी दी है और दूसरे स्वतंत्रचेता कवियों ने भी। अन्तर इतना है कि पहले के पास वर्तमान आर्थिक, सामाजिक और राजनैतिक विषमता को दूर करने का एक बंधा-बंधाया फार्मूला है और दूसरा वर्ग फार्मूले से अलग जीवनगत विसंगतियों में सामाजिक और दार्शनिक सच्चाई खोजने में लीन है। परिवर्तन वह भी चाहता है, आर्थिक शोषण से मुक्ति की कामना उसकी भी किसी प्रतिबद्ध कवि से कम नहीं है। लेकिन वह वामपंथी मोर्चों की आपसी भेदभाव की नीति और दलीय राजनीति की अमानवीयता भी देख रहा है अत: वह निर्विवाद रूप से 'कम्यूनिस्ट स्ट्रेटजी' को स्वीकार करने की स्थिति में नहीं है। इस मन:स्थिति को व्यक्तिवादी कहकर कोसा जाता रहा है पर जैसाकि मैंने पहले राजनीति के कोणों के परिवर्तन का संकेत किया—इस स्थिति में भारतीय मानस की आकांक्षा उसी की शर्तों पर व्यक्त करनी होगी। रामदरश मिश्र, चन्द्रकान्त देवताले, दिविक रमेश, श्याम नारायण पाण्डेय, रमेश गौड़ की रचनाओं में इस मन:स्थिति की सार्थक अभिव्यक्ति हुई है।

अत: जहां तक प्रश्न रचनात्मक नवीनता का है, वहां नवीनता की रचनात्मकता का प्रश्न भी उतना ही अहम है। आजके समाज में परिवर्तन के सूत्रों की वकालत करते हुये इतिहास चक्र से काफी कुछ सीखना होगा और यह भी कि हम जिस व्यवस्था के विरोध में शब्द संधान कर रहे हैं—उसके कितने अंग बन चुके हैं। प्रश्न विचारधारा या विचार कविता के प्रस्तवन का नहीं, प्रश्न उस रचनात्मक ईमानदारी का है—जो एक व्यापक दृष्टि से सम्पन्न काव्यानुभव को व्यक्त कर सके।

एक जर्मन कविता

बर्लिन

—कुर्ट बार्ट्स

हरी गलियां, एक सुनहरी लड़की
खड़ी है, खुले में दीवारों के पास
एक मुनीम थोड़ी देर बाद उसे
किसी के साथ भेज देता है

गली की बत्तियां बजबजाती हैं
हरी खिड़कियों से
बर्फ और संगीत बिखर जाता है
दो कटी टांगों वाले सिपाही के लिए
संगीत—नृत्य का क्या महत्व है

पुल काँपते हैं
गैसमीटर सांस लेते हैं—
वे उदास मौत पेश करते हैं आत्महत्या को जो
रात की ड्यूटी के बाद लौटती है
छतें, कफन, नगर ओढ़े हुए
नीचे दीवारें, गलकटा चांद
ड्यूटी बजाता पुलिस वाला

घरों में फैले दुख को समेटना
ट्रॉम के बस की बात नहीं
रात तालियों की गड़गड़ाहट के पीछे से
पर्दों को चीर कर आगे निकल जाती है

————

अनुवाद : केदारनाथ कोमल

कविता

यानो कि मैं

—मोहन निराश

यह क्या हो जाता है किसी दिन अचानक कि
मैं अपने आप को कांगड़ी की तरह
सामने रख देता हूं
सुलगाता हूं
कब के कोयला हुए जंगल में आग

सोचने लगता हूं
खिसकती हुई बर्फ की चट्टान पर बैठ कर
तब से अब तक
मौसम कितना बदल चुका है—तुम्हारी तरह
क्यों कहा था मैं ने एक दिन
गिरगिट के बदलते रंग देख कर
काल हूं मैं
अर्थात् अस्पताल का कोई एक बेड नम्बर
अथवा
भीड़
या लोग
वा
जुलूस
अर्थात् चौखटे में बन्द कटखनी चीख
अर्थात् मैं
यानी कि मैं
अर्थात् जुगाली के दौरान मुंह से छूट गिरा कोई तर्क

बौने अस्तित्व के आस पास
फैला पूरा अंधकार
विराट
और मैं तुम्हारी डायरी के किसी चौराहे पर
धो रहा हूं घोड़ों के ज़ख्म
सुलगते कोयलों की रोशनी में
तुम्हारी जेब से गिरगिट निकल कर
सर सर गुज़र जाता है
मेरी रीढ़ की हड्डी से हो के
यह क्या हो जाता है किसी दिन अचानक कि
अर्थात्
यानी कि ····?

———

कहानी

तुम्हें कहां याद होगा

—छत्रपाल

तुम्हें कहां मालूम होगा कि एक पल के लिए मेरा सारा खून जम गया था......अपने पराभव के मलबे तले दब गया था मैं।

सचमुच वह रात कितनी सर्द थी जो मेरी चिर संचित भावनाओं की सारी गरिमा सोख कर ले गई थी। वह रात थी या युद्ध-क्षेत्र। मैं सारी रात अपने आप से लड़ता रहा था। कितनी बार मैं मरा, कितनी बार पुनः जी उठा ? कोई हिसाब शेष नहीं है।

भिंचे होंठों को चीर कर तुम्हारा नाम बाहर आना चाहता था रजनी। मैं उस अंगारे को न तो उगल पा रहा था, न ही अपने भीतर दबा पा रहा था। एक सुलगती टीस मेरी छाती के आरपार होती रही थी। गहरी हताशा में डूब कर मैंने अपने आप से पूछा था—तुम मेरे लिए क्यों नहीं......क्यों नहीं।

मैं पिछले कई महीनों से जानना चाहता था कि तुम्हारे हृदय में मेरे लिए क्या स्थान है, तुम मुझे किस सीमा तक अपना महसूस करती हो। इसके उत्तर में तुमने उस शाम बड़ी सफाई के साथ अपनी डायरी मुझे दे दी थी। कसम भी ले ली थी कि किसी को न दिखाऊं। तुम्हारी नीम गुलाबी डायरी खोलने तक मैं महसूस करता रहा, मानो मेरी मुट्ठियों में कब से कसा कोई सपना छूट कर सच्चाई में बदलने लगा है। लेकिन पहला पृष्ठ पढ़ते ही मुझे लगा था जैसे नई-नई निकली नर्म फसल को पाला मार गया हो। अविश्वास से मैंने तुम्हारी ओर देखा था। तुमने नजरें चुरा ली थीं। तुमने मुझे इतनी बड़ी खुशफहमी में क्यों रखे रखा था ? उस समय तक मैं यही समझता आ रहा था कि तुम्हारे दिल के दरवाज़े पर पहली दस्तक मैंने ही दी थी। लेकिन रजनी, तुम्हारे अन्तस का द्वार पहले से ही खुला पड़ा था और चौखट पर भीतर जाने वाले किसी एक पुरुष के पैरों के

निशान अंकित थे। मैंने कभी सोचा तक नहीं था कि तुम मेरे अतिरिक्त किसी और से प्रेम करती थीं। तुम्हीं बताओ तुम्हारे दरवाज़े तक आकर भी खाली हाथ लौट जाने का दर्द मैं कैसे सहता ?

डायरी तुम्हारे आगे फेंक कर मैं कमरे से बाहर चला आया था। मेरी आंखों से टूटते तारों की तरह गिरते आंसू तमने देख लिए थे। तुम्हारा चेहरा भी कुम्हला गया था। मैं जब तक कमरे का दरवाज़ा बन्द कर के बाहर आया, तुम्हारी सिसकियों की आवाज़ आनी शुरू हो गई थी। एक पल के लिए मैं ठिठक गया था। जी हुआ भीतर जा कर तुम से पूछूं कि यदि तुम मुझे चाहती नहीं तो फिर इन सिसकियों का क्या मतलब ? तुम्हें शायद मुझ पर तरस आया था। या यह भी हो सकता है कि मुझे कुछ भी न दे सकने की तुम्हारी विवशता तुम्हें कचोट रही थी। यह तो तुम भी जानती थीं कि पिछले कई वर्षों से मैंने तुम्हारी छोटी से छोटी बात पर ध्यान दिया था। मुझे अपनी तरफ एक टक देखते हुए तुम कितनी बार मुझे मीठी डांट दे चुकी थीं। एक बार तो मैंने हद ही कर दी थी। तुम्हारी लापरवाही के कारण एक दिन तुम्हारे उस जापानी ड्रेस का ऊपरी बटन खुल गया था जिसे तुम तभी पहनती थीं जब बहुत खुश होती थीं। भाई साहब के सामने तुम्हें इस हालत में बैठे देख कर मुझे बहुत शर्म आ रही थी। तुम्हारी ड्रेस का लो-कट और भी गहरा हो गया था। मैंने तुम्हें समझाते हुए कहा था— जाओ शीशा देख आओ। तुम मेरी बात नहीं समझी थीं, मैंने दूसरी और तीसरी बार जब कहा तो तुम उठ कर गई थीं। भाई साहब अखबार पढ़ने में तल्लीन थे। लौट कर आई थीं तो गले का ऊपरी बटन बंद था। आंख चुरा कर तुम मुझे देखकर जिस तरह मुस्कुराई थीं, उस से लगा था मैं तुम्हारे और निकट आ गया हूँ। तुम्हारे गाल सुर्ख हो गए थे और तुमने भी अपना चेहरा अखबार के पीछे छुपा लिया था।

उस सब और तुम्हारी डायरी की इबारत में कितना अन्तर था ? तुम्हें मैं चुप कराने भी नहीं आया था। न ही तुम्हारे हा और अधिक रुक सकता था। भाई साहब आने वाले थे न।

मैं वापिस चला तो तुम रोज की तरह मुझे गेट तक छोड़ने नहीं आई थीं। अपने कमरे में आकर उस रात मैं फूट-फूट कर रोया था। मेरा मन पीड़ा और विद्रोह से जल रहा था। तुम किसी और को चाहती हो, यह तुमने मुझे पहले क्यों नहीं बताया ? क्यों मेरे साथ ऐसा मज़ाक किया। मैंने सोचा था, तुम्हें जान से मार डालूं और फिर स्वयं को भी समाप्त कर दूं। पता नहीं प्रेम में इतनी पीड़ा क्यों होती है ? क्यों प्रेम करना इतना पीड़ादायक होता है ?

आखिर पिछले कितने वर्षों से चलते आ रहे सिलसिले को एक ही रात में मैं यूं एकाएक कैसे तोड़ सकता था। तुम्हें बरसों से छुप-छुप कर चाहने का दर्द सहा था मैंने।

जिस सेंक में मैं जल रहा था उसकी तुम्हें खबर ही न होने दी थी। तुम्हें शायद अहसास तो क्या खबर तक नहीं होगी कि तुम्हारी देह में होते छोटे से छोटे, एक-एक, परिवर्तन को मैं कब से आंखों में भरता चला आ रहा था। तुम्हारी उपस्थिति में मेरी आंखें चमक उठती थीं और मैं तुम्हें डर-डर कर देखता था हमेशा। ताकि अन्य लोग उस खुशबू को सूंघ न लें जो तुमने मेरे तन बदन में समो दी थी। जिसकी लपटों में मैं तन्हा जल रहा था। काश ! उनमें से कोई लपट तुम्हें भी छू पाती।

वह रात मैंने जैसे तलवारों पर काटी थी। मन लहूलुहान था, और देह का पोर-पोर टीस रहा था। पौ फटे मुझे नींद आ गई थी। आंख खुली तो कोई दरवाज़ा खटखटा रहा था। वो तुम होओगी—मैंने कभी सोचा तक नहीं था। तुम्हारी आंखें सूजी हुई थीं······ चेहरा बुझा-बुझा सा था। तुमने अपने बाल उसी ढंग से बांध रखे थे जो मुझे बेहद पसन्द था। तुम चुपचाप भीतर आकर, मेरे बिस्तर के पास चेयर पर बैठ गई थीं। मैं कुछ नहीं कह सका था। वक्त हमारे बीच में से खामोशी से गुज़रा जा रहा था। अन्त में मैंने हौले से तुम्हारा नाम लिया था—राजे ! वह सब मुझे क्यों पढ़ाया था ? मैं तुम्हारे पास ही बैठ गया था। बिना एक क्षण गंवाए तुमने जो कहा था उसकी मैंने कल्पना भी नहीं की थी। याद है तुमने कहा था—अपना समझ कर।

मेरे मन में उस क्षण आया था तुमसे पूछूं शायद यह कुल्हाड़ी तुमने मुझे अपना समझ कर ही मेरे सिर पर मारी है। लेकिन मैं ऐसा न कर सका। तुम्हें कभी कोई कष्ट नहीं देना चाहता था। तुमने हौले से मेरा हाथ अपने दोनों हाथों में लेकर अपनी गोद में रख लिया था। मैं पिघला जा रहा था। एक गहरी अनुभूति से उत्पन्न सिहरन मेरे शरीर को कंपा गई थी और मुंह से एक दबी सिसकारी निकली थी। तुम मुझे अब भी अपना समझती हो, यह क्या कम था। मैं खुश होऊं या उदास, कुछ समझ नहीं पाया था।

तुम्हारी आंखें तब भीग आई थीं—पिछली रात की तरह। रुलाई दबा कर तुमने पूछा था—बताओ मैं क्या करूं···इस दुविधा से कैसे उभरूं ? ···मुझे मार डालो···तुम बार-बार, विक्षिप्त सी हुई कह रही थीं। मैंने तुम्हारे मुंह पर हाथ रख दिया था। तुमने अपना चेहरा दोनों हथेलियों से छुपा लिया था और देर तक सिसकती रही थीं। उसी क्षण मैंने समझ लिया था कि मैं तुम पर अत्याचार कर रहा हूँ। जब तुम मुझे चाहती ही नहीं तो फिर मैं क्यों तुम पर अपना-आप थोप रहा था। तुम्हें चाह कर मैंने सम्भवत: गुनाह किया था। पर यह भी जाना था कि तुम्हारे मन में मेरे लिए कुछ न कुछ था अवश्य। शायद तुम मेरा आदर करती थीं अथवा हो सकता है वह तुम्हारा शिष्टाचार था जिसे मैं कुछ और समझ बैठा था।

लेकिन रजनी, मुझे आदर-सम्मान नहीं, प्यार दरकार था। अपने पर भी ग्लानि हुई थी और मैंने अपना हाथ खींच लिया था। तुम्हारी आंखों से साफ लग रहा था कि तुम एक अपराध बोध तले दबती जा रही थीं।

फिर अचानक तुमने उठते हुए कहा था—'घर आएंगे न !' मेरे मुंह से बरबस निकल गया था—अब मेरा वहां कौन है ? किसके पास आना है ? स्वर कुछ तिक्त हो आया था। तुमने उत्तर में भी एक सवाल किया—क्यों, मैं अब घर में नहीं रहूँगी क्या ?

मैं चाहता था कहूं—तुम्हारे रहने, न रहने से अब मुझे क्या फर्क पड़ेगा ? जब तुम हो ही नहीं तो तुम्हें तलाश करने में क्या तुक है ?

तुम मेरे मन की बात कैसे समझ गई थीं ? —नहीं आपको आना होगा।

तुम्हारे जाने के बाद मैं तुम्हारी इन दोहरी बातों का भीतरी अर्थ समझने का प्रयत्न करता रहा और सोचता रहा था तुम मेरे कमरे तक क्यों आई थीं ? क्या तुम्हें आशंका थी अब मैं तुम्हारे घर नहीं आऊंगा ? लेकिन इससे तुम्हें क्या फर्क पड़ता······ ?

रजनी, ये कुछ ऐसी बातें थीं, जो मेरा हौंसला बढ़ाए जा रही थीं। मैं अगले रोज़ गया तो भाई साहब घर पर नहीं थे। तुम अपने कमरे में शायद पढ़ते-पढ़ते सो गई थीं। किताब नीचे गिर गई थी। तुम्हारा नन्हा सिर नर्म तकिए में डूब-सा गया था। बाल गालों पर छितरा गए थे। सोते हुए तुम किसी दूसरी दुनिया से आई हुई लग रही थीं। कमरे में हलकी रोशनी थी। उस नीम अंधेरे में एकाएक मेरा मन एक भावुक पवित्रता से भर गया था, एक अपराध बोध से भी, लगा, तुम किसी मन्दिर का भीतरी प्रकोष्ठ हो जहां मैं जूतों समेत चला आया था। तुम्हारे पैर पिंडलियों तक अनावृत्त थे। उन से मुझे एक उजास-सा फूटता महसूस हुआ। मैंने बढ़ कर हलके से तुम्हारा एक पैर चूम लिया था। तुम चौंकी नहीं थीं और न ही एकाएक जागी थीं। धीरे-धीरे तुमने आंखें खोली थीं। करवट ली थी और मुझ पर नज़र पड़ते ही उठ बैठी थीं। अपने बालों को संभालते हुए तुम पैरों की तरफ देखने लगी थीं। शायद तुम सोई नहीं थीं।—मुझे मालूम था, आप जरूर आएंगे। बत्ती जलाते हुए तुमने कहा था। में कुछ कहता तभी बाहर से फाटक खुलने की आवाज़ आई थी। भाई साहब आए लगते थे। मैं झट से ड्राइंग रूम में चला गया था।

भाई साहब के साथ काम करते उस शाम मैं बहुत अनईज़ी महसूस करता रहा था। कहीं एकांत में बैठ कर तुम से बहुत कुछ पूछना चाहता था। लेकिन काम काफी बाकी था। बीच-बीच में तुम आती रही थीं, कभी इस बहाने तो कभी उस बहाने। भाई साहब ने आंख उठा कर भी नहीं देखा था। वे आते ही अपने काम में व्यस्त हो गए थे। बड़ी अरुचि से काम समाप्त किया तो काफी रात हो गई थी। मैं वहीं रुक गया था, तुम्हारे घर, भाई साहब के कमरे में। रजनी, मैं सारी रात करवटें बदलता रहा था। एक पल भी सो न पाया था। तुम्हारे कितने पास था मैं, किन्तु फिर भी कितनी दूर ? तुम्हारे कमरे की बत्ती काफी रात गए तक जलती रही थी। मैंने एकाध बार हिम्मत की कि तुम्हारे दरवाज़े तक जाकर देखूं कि तुम क्या कर रही हो ? पर तुम तो जानती ही हो, भाई साहब की नींद कितनी कच्ची थी। फिर भी मैं तुम्हारी प्रतीक्षा करता रहा था। कितनी अजीब बात थी कि जब तुम किसी और की आंखों का नूर थीं तो मैं क्यों कर

रोशनी के उस झरने के नीचे ओक लगाए बैठा रहा था, जिसकी धारा किसी और तरफ मुड़ गई थी।

सुबह हुई तो मेरा सिर भारी था। आंखों में कुछ चुभ रहा था। भाई साहब अभी सो रहे थे। तुम रसोई में काम कर रही थीं। मैं तुम्हारे पास आया था। तुम्हारी सूखी आंखों से लगा था, तुम रात को रोई थीं, जागती रही थीं। तुम्हें कुछ भी कह नहीं पाया था। भाई साहब को बताए बिना चला आया था।

उस दिन मैं उदास और खाली-खाली सा, थियेटर के बाहर खड़ा था कि तुम विकल के साथ आती दिखाई दी थीं। घर पर इतना गाम्भीर्य ओढ़े रखने वाली तुम, उसके हाथ में हाथ डाल कर कितना चहक रही थीं; मैंने मुंह फेर लिया था। ठीक से उसे देख तक नहीं पाया था। थियेटर की सीढ़ियां चढ़ते समय विकल ने तुम्हें सहारा दे रखा था...... नहीं जानता कैसे एक तटस्थता से मैंने सोचा था— यह कैसे हो जाता है कि जो वस्तु एक के लिए अप्राप्य होती है दूसरा उसी को कितनी आसानी से प्राप्त कर लेता है।

मैं फिल्म बीच में छोड़ कर चला आया था। नहीं चाहता था कि तुम मुझे देखो और अपने आपको मेरा अपराधी महसूस करो। फिर भी मेरी समझ में कभी यह बात नहीं आई थी कि तुम दोनों तरफ क्यों संतुलन बनाए रखना चाहती थीं। क्योंकि घर आकर तुम मुझसे इस तरह पेश आई थीं, मानो तुम्हारे लिए मैं ही एकमात्र महत्वपूर्ण व्यक्ति था। तुम बहुत खुश थीं उस दिन। भाई साहब तुम्हें देखकर मुस्कराए थे। तुम पर उन्होंने किसी भी बात की पाबन्दी नहीं लगा रखी थी। उन्हें तुम पर पूर्ण विश्वास था, मुझ पर भी।

हम स्टूडियो में काम करते रहे। तुम्हारी गुनगुनाहट मुझे सहलाती रही थी। सहलाती रही थी, जलाती रही थी। मैं तुम्हारी इस गुनगुनाहट का अर्थ जानता था। और कैनवस पर कूची चलाते-चलाते उस पल मैंने एकाएक तुम्हें छोड़ देने का निर्णय कर लिया था। लेकिन कैसे? यह मुझे मालूम नहीं था।

काम समाप्त होने के बाद, नियम के विपरीत खाना खाने मैं भाई साहब के साथ उस रोज टेबल पर नहीं आया था। तुमने आंखों ही आंखों मुझसे पूछा था, डांटा भी था। लेकिन मेरे सामने मेरा निर्णय आकर खड़ा हो गया था। तुम्हारे चेहरे पर पीड़ा की काई जम गई थी।

मैं प्रतिदिन आता था लेकिन तुम से बात नहीं करता था। मुझ से बात करने के लिए तुम भाई साहब के सामने मुझसे कुछ न कुछ पूछ लेती थीं। मैं इस तरह नज़रें झुका कर हां या न में गर्दन हिला देता था कि भाई साहब को किसी प्रकार का कोई संदेह न हो।

हम तीन प्राणियों की उस छोटी सी दुनिया में चौथे प्राणी के आ जाने से कितना बड़ा परिवर्तन आ गया था, इसे मैं जानता था या तुम। प्रेम में अस्वीकृत किए जाने का दुःख मेरा था, प्रेम की महान उपलब्धि का सुख तुम्हारा था। विकल और तुम्हारे बीच मैं तीसरे

व्यक्ति की तरह जी रहा था। मैं एक ही समय तुम से प्यार भी करता था, तीव्र घृणा भी। तुम हर बार स्थिति को सामान्य बनाने का प्रयास करती थीं और मैं तुम्हारा हर प्रयत्न असफल बना देता था।

मुझे मालूम था कि इस प्रेम यात्रा में मुझे कुछ नहीं मिलने वाला था—मैं इतनी दूर आ गया था कि अब खाली हाथ लौटना असह्य होता जा रहा था। रजनी, दो-चार कदम साथ चलकर तुम मुझे छोड़ गई थीं।

अब सोचता हूं तो लगता है, मेरी वह शुरुआत ही गलत थी। तुम्हारी और मेरी आयु के बीच पूरी नहीं तो आधी पीढ़ी का अन्तर अवश्य था। अपने मानसिक धरातल से मैंने तुम्हारी खातिर कितना नीचे झुक कर तुम से प्यार किया था। तुम्हारी रुचियां भिन्न थीं। तुम में चढ़ते समुद्र का उफान था। मुझ मे था एक ठंडा ठहराव, जिसे तुम्हीं ने तरंगित किया था।

फिर एक दिन तुमने भी मुझसे बात करना छोड़ दिया था। शायद तुम्हें विकल ने ही कोई निर्देश दिया था। क्योंकि जब तुम मुझे उसके विषय में बता सकती थीं तो उसे भी मेरी बातें सुना सकती थीं। मुझे विकल के सामने छोटा होना गवारा नहीं था। इसीलिए मैंने तुम्हारे घर आना भी छोड़ दिया था।

भाई साहब ने मुझे बहुत डांटा था, मुझे मेरे कैरियर की दुहाई दी थी। पर मुझे उस समय वह सभी बातें निहायत छोटी लगी थीं। प्रेम में जाने ऐसा क्या है, जिसके आगे सभी कुछ क्षुद्र लगता है।

तुमसे टूट कर फिर मैं कहीं भी नहीं जुड़ पाया था। मुझे नीता के कहे शब्द याद आए थे—तुम ज़िन्दगी में कभी सफल नहीं हो सकते। जो कुछ देखते हो उसे अपने साथ जोड़ना चाहते हो। इस तरह तुम पूर्णतः अकेले रह जाओगे। नीता से मैं स्वयं टूटा था। उसके प्रेम की गहरी अनुभूति, उसकी समर्पण की एकनिष्ठता और स्नेह की अथाह प्यास मुझसे बरदाश्त नहीं हो सकी थी। लेकिन हम मित्रों की तरह अलग हुए थे, या शायद नीता ने और मैंने ऐसा सोचकर अपने मन को तसल्ली दी थी।

रजनी, तुमसे तब मेरा वही रिश्ता रह गया था, जो एक दरख्त और झड़े हुए पत्ते में होता है फ़र्क सिर्फ यह था कि यहां वह पत्ता·· मैं ही था।

वक्त की आंधी चलती है तो स्मृतियों के कई सूखे पत्ते उड़-उड़ा जाते हैं। एक निचाट खालीपन रह जाता है जिसे मन फिर से भरने के लिए मचलता है। लेकिन कोई नई शुरुआत करने से मैं अब डरने लगा हूं। बस, अकेला हूं डाल से बिछुड़े पत्ते की तरह।

कई बार सोचता हूं रजनी, जब मैं नीता के प्रति एकनिष्ठ नहीं रह सका था तो तुम मेरे प्रति क्यों रहतीं। जितना सोचता हूं उतना ही एक दलदल में धंसता जाता हूं। अपने से अलग हुआ था, अपने में ही लौट आया। वह यात्रा जो मुझसे शुरू होकर मुझी में समाप्त

हो गई थी, मेरे मन में एक टूटन भरी थकान दे गई थी। फिर मैंने अपने को अपने से अलग नहीं होने दिया था। बस अपनी दी हुई एक कैद भोगता रहा।

तुम्हें एक दिन मैंने विकल के साथ देखा था, उसी सिनेमाघर के बाहर। उस दिन तुम्हारा जन्म-दिन था। आश्चर्य ! तुम दोनों को देखकर मुझ पर कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी। तुमने मुझे देख लिया था। पल भर ठिठकी भी थीं, मगर मैं अपरिचित सा खड़ा रहा था। तुमने बाल उस ढंग से बांध रखे थे जो मुझे सख्त नापसंद था। वहां थियेटर की भीड़ में तुम मुझे एक टूटे हुए सपने के सदृश लगी थीं, एक टूटे हुए रिश्ते की तरह या एक बंद किताब की तरह।

अपने घर आकर मैंने वह पैकेट खिड़की के बाहर फेंक दिया था जिसे मैंने तुम्हारे जन्म-दिन के लिए अपनी पहली पेंटिंग बेचकर दस महीने पहले खरीदा था।

मुझे लगा था, मैंने अपने शरीर के किसी टीसते अंग को केंचुल की तरह उतार कर फेंक दिया था। मैं थक गया था··· घर में बंद हो गया था। मुझसे सभी कुछ छूट गया था ··· तुम भी। घर के दरवाज़े पर अब मैंने सांकल चढ़ा ली थी।

पानी

तीन लघु कविताएं

—पृथ्वीनाथ मधुप

(१)

कई
नदियों,
नालों को
अपने ही तल में जमी
मिट्टी और बालू ने
जब/बहुत उथला किया
जल ने—
एक ही ओर
दिशा बदली :
जन्मी/वेगवती नदी !

इधर—
रेत के विस्तार में
दूर दूर
गई गड्ढों में
बंट गया/पानी ।
बहता जल
स्थिर जल
एक ही पानी के—
पानी और पानी में
कितना है अन्तर !!!

(२)

नदी
बह चली !
बहा ले जायेगा
प्रवाह
चीजें सब

गली-सड़ी !
सुथराई ! सुथराई !!
दिख जायेगी/हर कहीं !
प्यास प्यासों को
कैसे रहेगी बाक़ी ?
गूंजेंगे रसमय गान
हरियायेंगे बियाबान !
बूढ़ा जर्जर भगीरथ
ले आया है—
जाह्नवी ! जाह्नवी !!

(३)

उभर रहे हैं द्वीप
धारा
धाराओं में बटने को है
मिली खबर है ।
गड्ढों का गंदा पानी
उबल रहा है
मिली खबर है ।
मेरा जर्जर वृद्ध भगीरथ
जर्जर तर है !!
मिली खबर है ।
प्रभु !
मेरी यह उम्र
उसे दो !
हम सब को हो
उम्र
उसे दो !!
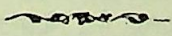
कश्मीर शैवमत और नुन्द ऋषि

—बदरीनाथ कल्ला

भारतीय संस्कृति के विकास में कश्मीर ने जो महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है वह उल्लेखनीय है। यहां समय समय पर लेखक, दार्शनिक इतिहासकार, भक्त, ऋषि आदि पैदा हुए हैं जिन्होंने यहां के साहित्य को चारचांद लगाये। चौदहवीं शताब्दी कश्मीर में राजनीति तथा साहित्य की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण मानी जाती है। इस शताब्दी में कश्मीर में एक महान् विभूति पैदा हुई जो शेख नूरुद्दीन-वल्ली या नुन्द ऋषि के नाम से प्रसिद्ध है। ऋषियों की परम्परा में इस महात्मा का स्थान बहुत ऊंचा है। वास्तव में यह अपने समय के महर्षि माने जाते थे। संस्कृत भाषा में ऋषि की व्युत्पत्ति देते हुए कहा गया है कि ऋषि त्रिकाल दर्शी होता है उसकी दृष्टि भूत, भविष्य तथा वर्तमान पर होती है।[1] इस के अतिरिक्त मंत्रों का साक्षात्कार जिसे होता है, वह भी ऋषि कहलाता है। नुन्द ऋषि आध्यात्मिक दृष्टि से महात्मा और ऋषि भी थे। महात्मा उसको कहते हैं जिसे प्राणियों में भगवान का अथवा परमशिव का रूप नज़र आये और जो सबों को समान रूप से देखे। महात्मा और ऋषि होने के नाते यह अहिंसा धर्म के प्रचारक थे। महात्मा बुद्ध ने जिस तरह सच्चाई की खोज में अपना सारा जीवन व्यतीत किया और अंत में उसे आत्मज्ञान प्राप्त हुआ उसी तरह यह महात्मा भी आत्मज्ञान से समलंकृत हुए। महात्मा और ऋषि में जो जो लक्षण होने चाहिएं वह इनके व्यक्तित्व में स्पष्टता: दृष्टिगोचर होता हैं।

कई इतिहासकार इन्हें सहजानन्द के नाम से पुकारते हैं। सहजानन्द का अर्थ बहुत व्यापक है, इसक अर्थ स्वाभाविक आनन्द है। वेदान्त में ब्रह्म की परिभाषा सत्, चित् तथा आनन्द बताई गई है जैसे 'सच्चिदानन्दं ब्रह्म''। सत् से अभिप्राय चैतन्य तथा आनन्द से अभिप्राय परम सुख अथवा पारमार्थिक सुख से है इस दृष्टि से यदि नुन्द ऋषि को 'सहजानन्द' भी कहा जाये तो कोई अत्युक्ति नहीं क्योंकि वह खुद ब्रह्म के ही रूप थे।

---

१. निरुक्त-भास्कराचार्यकृत।

ऋषियों की परम्परा कश्मीर में हज़ारों साल से चली आई है जो यहां की राजनीति से तटस्थ रह कर लोगों को आध्यात्मिकता, प्रेम, भाईचारा तथा शान्ति का संदेश देते रहे। इन्हीं ऋषियों में से नुन्द ऋषि का नाम कश्मीरी साहित्य में सम्मान से लिया जाता है।

यह वह ज़माना था जिस समय शैवमत का विकास, घाटी में पूर्णरूप से हुआ था। जातिभेद की भावना कब की खत्म हुई थी। इस्लाम ने कश्मीर में अपने कदम यथा तथा जमाये थे। शैवमत ने नये धर्म के लिए ज़मीन समतल करदी थी। त्रिकदर्शन के अनुयायियों ने इस्लाम की शिक्षा में कोई विरोधीतत्त्व नहीं पाया। सूफियों के 'अनल्लहक्' अर्थात् 'मैं हकीकत हूं' में वही गुण पाये जाते हैं जो वेदान्त के इस वाक्य—'अहं ब्रह्मस्मी' यानी मैं ब्रह्म हूं या शैवों के 'शिवोऽहं' यानी मैं शिव हूं में पाये जाते हैं। वस्तुत: एक ही सचाई भिन्न भिन्न नामों से पुकारी जाती है। इसकी पुष्टि हमें 'ऋग्वेद' के इस मंत्र से मिलती है—"एक सद्विवा: वहुधा वदन्ति।"

कश्मीर का गौरव साहित्यिक दृष्टि से आठवीं शताब्दी से बारहवीं तक बहुत ऊंचा रहा है। कश्मीर के इस स्वर्ण युग में शैवदर्शन के आचार्यों—वसुगुप्त, सोमानन्द, उत्पलदेव तथा अभिनव गुप्त जैसे दार्शनिकों ने इस दर्शन को पराकाष्ठा तक पहुंचा दिया तब से इसका प्रचार तेरहवी शताब्दी तक ज़ोरों पर था।

प्राचीनकाल से कश्मीर में यातायात के साधन विद्यमान थे। यह स्वाभाविक बात है कि घाटी में हिन्दुस्तान से विभिन्न मत तथा दर्शन समय समय पर पहुंचे। इनमें वैदिक मत शैवमत आदि हासिल हैं। इन मतों से कश्मीर के लोग बहुत प्रभावित हुए। बुद्धमत कश्मीर में मसीह के दौर से पहले फैला हुआ था। इसकी उन्नति कश्मीर की उपत्यका में अशोक के काल से सातवीं शताब्दी तक काफी हुई थी। आठवीं और नवीं सदी में कश्मीर में एक धार्मिक क्रान्ति हुई। परिणाम स्वरूप बुद्धमत को काफी धक्का लगा। इससे शैव-मत पुनर्जीवित हुआ। नवीं शताब्दी में कश्मीर विभिन्न दार्शनिक धाराओं का संगम बन गया। ये धारायें हिन्दुस्तान से वैदिकों, बौद्धों, वैयाकरणों, सांख्यमत वालों, नैयायिकों, वेदान्तियों और योगदर्शन के स्कूलों से आईं। इन मतों के संगम से कश्मीर में एक नये दर्शन ने जन्म लिया जिसको साधारण लोग 'कश्मीर शैवमत' कहते हैं। किन्तु यह एक विशेष दर्शन है जिसका नाम प्रत्यभिज्ञा दर्शन है। इस दर्शन के अध्ययन से मालूम होता है कि इस दर्शन को समृद्ध बनाने के लिए आचार्यों ने विभिन्न दार्शनिक विचार धारायें इन मतों से लीं। किन्तु कश्मीर के दार्शनिकों ने यह नया दर्शन अपने ढंग से प्रस्तुत किया जो कश्मीर शैवागमों पर आश्रित है। प्रत्यभिज्ञा का अर्थ अपने आप को पहचानना अर्थात् उत्तराधिकार में मिली हुई शक्तियों—इच्छा, ज्ञान और क्रिया को जानना है। इस दर्शन के अनुसार यह दुनिया सत्य है वेदान्त की तरह—मिथ्या नहीं है। जैसे 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' अर्थात् ब्रह्म सच्चा

है और जगत् झूठा है। यह जगत् शाश्वत सत्य का साकार रूप है। आत्मा चैतन्य है यह चैतन्य तीन शक्तियों—इच्छा शक्ति, ज्ञान शक्ति तथा क्रिया शक्ति का सम्मिश्रण है इस दर्शन के अनुसार इस विश्व का स्रोत परमशिव माना गया है जिसके दो रूप हैं—प्रकाश तथा विमर्श। ये दो रूप आपस में ऐसे जुड़े हैं कि एक दूसरे से अलग नहीं हो सकते। इन्हीं दो शक्तियों से ईश्वर ने छत्तीस बाह्य तत्त्वों को प्रकट में लाकर इस विश्व को अण्डज, स्वेदज, उद्भिज सूक्षात्मक पैदा किया। इस विश्व को पैदा करने वाला और इसका स्वामी एक महेश्वर है और इस विश्व में पैदा होने वाले सब लोग इस परम पिता महेश्वर की सन्तान हैं। महेश्वर प्रकाशरूप है और प्राणी प्रकाश के कण हैं। इस दृष्टि से सब लोग एक दूसरे के बराबर हैं और सब भाई भाई हैं। इस दर्शन के अनुसार महेश्वर एक परम तत्त्व है जो सब शक्तियों से भरपूर है। यह सर्वज्ञ (सब कुछ जानने वाला) सर्वकर्ता (सब कुछ बनाने वाला) सर्वस्वतंत्र शक्तिमान् (अपनी सारी शक्तियों का स्वतंत्ररूप से स्वामी) है। इसके विपरित एक जीव अल्पज्ञ (सीमित सोचने की शक्तिवाला) अल्पकर्ता (काम करने की सीमित शक्ति रखने वाला) अल्पशक्तिमान (सीमित शक्तियों को रखने वाला) है। जिस तरह महेश्वर अपनी अनन्त शक्तियों तथा स्वातंत्र्य शक्ति से इस विश्व को बनाने का काम करता है उसी तरह एक जीव भी अपनी दुनिया और भाग्य को खुद बनाता है। अल्प स्वातंत्र्य शक्तिमान् होने के कारण जीव को अपने दायरे के अन्दर यह सब कुछ बनाने के लिए सीमित स्वातंत्र्य शक्ति प्राप्त है और वह अपने सत् विचारों तथा सत्कर्मों से न केवल अपने जीवन को सफल और समृद्ध बना सकता है बल्कि शुभ विचारों तथा सत्कर्मों को अपनाने से समस्त विश्व की समृद्धि के लिए एक महत्त्वपूर्ण भूमिका भी निभा सकता है।

इस उच्च दर्शन के कुछ सिद्धान्त यह हैं:—जीव में वही विशेषतायें हैं जो परमशिव में हैं किन्तु कुछ मलों (आणव, कार्य तथा मायीय) के कारण जीव अपने आपको उस परमशिव से अलग-थलग समझता है और अपने में इसके मुकाबले में न्यूनताओं को अनुभव करता है। जिस तरह सिंह गीदड़ के रेवड़ में पड़ कर ईश्वरप्रदत्त वीरतादि गुणों को भूलकर गीदड़ सा बनता है उसी तरह एक जीव भी उत्तराधिकार में मिली हुई शक्तियों को इस संसार में भूल जाता है। अपने आपको पहचानना इस दर्शन का उद्देश्य है।

इस अवस्था में जब वह अपने आप को पहचानता है तो उसमें वही विशेषतायें आती हैं जो परमेश्वर में पाई जाती हैं। जिस तरह आग से उठी हुई एक चिंगारी आग से अलग नज़र आने के बावजूद आग की ही याद दिलाती है उसी तरह जीव भी मलों के कारण अपने आप को उस परम तत्त्व से अलग समझता है जबकि वस्तुतः वह उसी प्रकाश का एक भाग है। इस दर्शन के अनुसार सारा विश्व चैतन्यमय समझा जाता है क्योंकि विश्व को सबसे पहले एक चैतन्यमय ही प्रकट कर सकता है और इसको छोड़कर दूसरा कोई इसे जान नहीं सकता। एक चैतन्यमय पुरुष की दृष्टि से यह विश्व भी चैतन्यमय है। इस में भौतिकता की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया है। इसके अनुसार सब कुछ चैतन्यमय है।

प्रत्यभिज्ञा दर्शन के अनुसार एक मनुष्य को घर तथा दुनिया त्याग कर गिरि-कन्दराओं में उपासना करने की आवश्यकता नहीं है। वह गृहस्थाश्रम में रहकर भी अपने को परम-शिव के दर्जे तक पहुंचा सकता है। इसके सिद्धान्त ग्रन्थों में मूर्तिपूजा आदि पर बल दिया गया है। इसमें जातपात का कोई बन्धन नहीं है। इसमें अद्वैतवाद का विस्तृतरूप से वर्णन किया गया है क्योंकि उस समय (चौदहवीं शताब्दी में) शैव दर्शन का प्रभाव काफी गहरा था। इसलिए जब इस्लाम ने यहां पहले कदम जमाये तो लोगों को इस्लाम के मुख्य सिद्धान्तों को समझने में कोई कठिनाई अनुभव न हुई।

कश्मीरी साहित्य की प्रथम कवयित्री, ललद्यद शैवदर्शन की पूजक थी। उसने अपने वाखों (वाक्यों) में शैवदर्शन को समा लिया है। उसने अपने वाखों में विभिन्न परिस्थितियों के कारण उत्पन्न मिली जुली प्रतिक्रिया को सुधारने की भरसक कोशिश की। इस तरह वह इस्लाम को शैवदर्शन के नज़दीक लाने में सफल हुई। वस्तुतः ललद्यद शैवदर्शन के सिद्धान्तों को ले कर ही आगे बढ़ी थी। एक वाक्य में वह कहती है—

शिव छुव थलि थलि रोज़ान,
भो ज़ान ह्योंद त मुसलमान।
त्रुकुय छुख त पान प्रज़नाव,
स्वय छय साहिबस ज़ोनी ज़ान॥

उपरोक्त वाख से स्पष्टतः इस बात की ओर संकेत मिलता है कि कश्मीर में शैवदर्शन के अद्वैतवाद से लोग पूर्णरूप से परिचित थे। अपने आप को पहचानने से मनुष्य परमशिव को पहचान सकता है।

इस दर्शन के अनुसार शिव प्रत्येक पदार्थ में रहता है। अणु अणु में उसकी सत्ता विद्यमान है। ललद्यद इन उपदेशों के कारण जनता के अज्ञान-दीपक को प्रज्वलित करने में सफल हुई। इसमें सांप्रदायिक भावना, भेदभाव तथा धार्मिक तनाव की कोई गुंजाइश नहीं है। यही कारण है कि नुन्दऋषि आदि सन्त शैवदर्शन के मूल सिद्धान्तों से प्रभावित नजर आते हैं जिनकी झलक इनके श्लोकों और वाखों में प्रायः पाई जाती है और लोगों में भी इन सिद्धान्तों की ओर प्रवृत्ति नज़र आती है। लोगों ने इनके श्लोकों और वाखों को बहुत पसन्द किया है।

यद्यपि नुन्द ऋषि के श्लोकों में विभिन्न मतों का प्रभाव दिखाई देता है फिर भी इनमें शैवदर्शन के तत्व विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। उस समय का वातावरण कश्मीर में शैव-दर्शन का ही था। इसके प्रभाव से जनता में सद्भावना का वातावरण पैदा हुआ था। मंत्र-महेश्वर आदि सिद्ध संप्रदाय शैवमत में पाये जाते हैं इनका विशेष प्रभाव उस समय के मुसलमान व संतों में भी पाया जाता था जिसकी परम्परा अब भी कश्मीर में प्रचलित है।

इनके कुछ श्लोक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किये जाते हैं—

युसुय तति सुय छुय यते सुय छुय प्रथशायि रेटिथ मकान ।
सुय छुय प्याद सुय छुय रथे, सुय छुय सोरुय गुदिथ पान ।।

(नूरनामा पृ० १५६)

अर्थात्—जो वहां है वही यहां भी मौजूद है। वही हर जगह व्याप्त है। वही प्यादा और रथ की सवारी भी वही। सारे विश्व में वही गुप्तरूप से व्याप्त है । इस श्लोक में परमशिव के प्रत्येक पदार्थ में विद्यमान होने की ओर संकेत किया गया है। रथ हांकने वाले और खेंचने वाले दोनों में उसी का प्रकाश बराबर है । प्रकाश के रूप में वह विश्वोत्तीर्ण है और विमर्श के रूप में विश्वमय है। मनुष्य के मन में जब तक कोई विचार क्रिया का रूप धारण नहीं करता है तब तक वह प्रकाश है। जब उसका विचार क्रिया में परिणत होता है तो वह विमर्श कहलाता है। प्रकाश और विमर्श का उदाहरण इसमें स्पष्ट रूप से प्रकट होता है ।

सु म्य निशे ब तस निशे म्य तस निशे क़रार म्राव ।
नहक़ छोंडुम म्य परदीशे पनने दीशे म्य यार म्राव ।।

(नूरनामा पृ० १५५)

अर्थात्—वह मेरे पास है मैं उसके पास हूं। मैंने उसकी संगति से सुख पाया। मैंने व्यर्थ ही उसे दूसरे देश ढूंढा। अपने ही देश अर्थात् अपने आप में ही मेरा प्रियतम मेरे हाथ आया। इस श्लोक में उन्होंने परमशिव को अपने आप में ही पाने का संकेत किया हैं। यहां परमशिव से तात्पर्य कैलाश पर्वत पर रहने वाले भगवान् शिव से नहीं या स्वर्ग में रहने वाले महेश्वर या शिव से नहीं, अपितु परम तत्त्व से है क्योंकि शैवों के मतानुसार शिव भगवान् है किन्तु शैवदर्शन के अनुसार वह परम तत्त्व है शैवमत और शैवदर्शन में यही अन्तर है। इस तरह वह प्रत्येक प्राणी में है किन्तु मनुष्य जो सब प्राणियों में श्रेष्ठ है उसको चाहिये कि वह अपने अज्ञान को दूर करके अपने आप को जानने की कोशिश करे। अपनी शक्तियों को जानने से ही वह यथार्थता को जान सकता है।

सोरी त्रोविथ रोटुख म्य चंप म्य च़य छांडान लूसुम दोह ।
जानस मंज़ यलिरोवटुख म्य च़य म्य च़च त पानस दितुम छोह ।।

(नूरनामा पृ० ५६)

अर्थात्—सब को छोड़कर मैंने तेरे ही दामन को पकड़ा। तेरी तलाश में मेरे जीवन के दिन ढल गये। जब मैंने तुझे अपनी जान के संग पाया मैं फूला न समाया। दोनों का तादात्म्य हुआ। इस श्लोक में अपने आप में ही प्रकाश को पाने का संकेत मिलता है जो शैवदर्शन के सिद्धान्तों के अनुरूप है। इस दर्शन के सिद्धान्तों के अनुसार अपने आप में ही यथार्थता जानने की शिक्षा है।

सुय म्रोस त सुय हो म्रासी, सुय सुय कर्यज़ि त ।
सुय सोरी म्रंदेश कासी हय ज़ुव वायस प्यत ।।

(नूरनामा)

अर्थात्—वही था और वही होगा। उसका नाम लेता रह। वही मनुष्य के भ्रम को मिटायेगा। रे जीवन! कोई उपाय ढूंढ। और अपने आपको पहचान। इसमें नुन्दऋषि ने प्रकाश को सनातन मान लिया है। हिन्दूधर्म तथा अन्य मतों के अनुसार इस विश्व को संहार करने वाला शिव माना गया है किन्तु शैवदर्शन के अनुसार शिव या महेश्वर प्रकाश के रूप में हमेशा विद्यमान है, नित्य है। इस दृष्टि से वह पहले भी था आगे भी होगा। विमर्श के रूप में, नदी, नालों, पर्वतों तथा वृक्षों आदि में उसका साकार रूप प्रति क्षण नज़र आता है इसी तरह उसका प्रकाश चेतन और अचेतन में भी पाया जाता है। इस प्रकार इनके इन श्लोकों में प्रत्यभिज्ञा दर्शन के सुस्पष्ट दृष्टान्त मिलते हैं—

अथ कंदि पानस मोदिम रंदो, अमि सूत्य बंद मल वथीन्ने।
अभि तस्बीह आस त जंदो, अमि कंद सु अथि यी न्ने॥

(नूरनामा पृ० १५५)

अर्थात्—अपने शरीर को सिंगार आदि से अलंकृत मत कर। इससे अन्त: करण का मैल धुल न सकेगा। माला, डंडा और जीर्णवस्त्र वे सब मिथ्या तथा छल कपट हैं। इस तरह वह हाथ नहीं आ सकता। इस श्लोक में सन्त कबीर की तरह बाहरी दिखावे और माला जपने को एक प्रकार का ढोंग माना गया है। सन्त कबीर इस दोहे में बताते हैं—

माला फेरत जुग भया मिटा न मन का फेर।
कर का मनका डारि दे मनका मनका फेर॥

शैवदर्शन इस प्रकार की उपासना में विश्वास नहीं रखता।

"क्या करि तसंज क्रय त कारण यस व्ययिस अथ दारुत प्ययो"॥

(नूरनामा)

अर्थात्—जिसने दूसरों के सामने अपने हाथ फैलाये, उसकी क्रिया निष्फल है। मनुष्य अपना सुधार आप कर सकता है। वह स्वयं भाग्य-विधाता है। इच्छा, ज्ञान और क्रिया इन शक्तियों से वह अपने आप में विद्यमान स्थायी निधियों का स्वामी बन सकता है। इस तरह शैवदर्शन के अनुसार वह अपने आप को सुधारने में खुद ज़िम्मेदार है।

श्राना केर्यज़ि युथ न कांह डेशी, ग्याना केर्यज़ि गुपित पान।
क्रिया केर्यज़ि युथ न ज़ाथ मशी मशी निशि श्रद पनुन पान॥

अर्थात्—ऐसे नहाया जाये कि कोई न देखे, अपने आप को लोगों की नज़रों से ओझल रखकर ज्ञान में डूब जा। अमल करना भी न भूल। उसके बाद तुम अपने अस्तित्व को भूल जाओगे।

इस श्लोक में शैवदर्शन का प्रभाव स्पष्टत: दिखाई देता है। इसमें ध्यान तथा ज्ञान का संकेत हमें मिलता है जो वस्तुत: वाह्य प्रदर्शन है। इसमें कर्म पर अधिक बल दिया गया है। श्रीमद्भगवद्गीता में भी कर्म को प्राथमिकता दी गई है। उसमें बताया गया है—

कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन: ॥

अर्थात् मनुष्य को कर्म करते रहना चाहिए उसके फल की इच्छा मत कर। किन्तु कर्म करना न भूल। इक़बाल के कथनानुसार—"अमल से ज़िंदगी बनती है जन्नत भी जहन्नुम भी" क्योंकि ज़िंदगी का नाम निरन्तर क्रिया है। इसलिए शैवदर्शन में क्रिया की सविस्तार व्याख्या मिलती है जैसे—

"ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीविनां जीवनं मनम्"। (उत्पलदेव)

ज्ञान और क्रिया—ये दोनों मनुष्य के लिए आवश्यक हैं। क्रिया मनुष्य का जीवन है जिसमें ये दोनों चीज़ें न हों, वह ज़िन्दा होकर भी मुर्दा है।
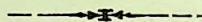
भाषा कोरे वादों से
वायदों से भ्रष्ट हो चुकी है सबकी
न सही यह कविता
यह मेरे हाथों की छटपटाहट सही,
यह कि मैं घोर उजाले में खोजता हूं
आग···

—रघुवीर सहाय

एक कश्मीरी कविता

मैं और वे दूसरे

—अमीन कामिल

नहीं, अकेला मैं ही नहीं हूं
जो इंतहाई बेचैनी की हदों पर बैठा हुआ
प्रश्न पर प्रश्न उछालता हूं
लेकिन उत्तर में पाता हूं जवाबों की अलौकिक महाश्वेता
जो अपने एकांत के पर्णकुटीर में
अभी भी पर्दा डाले दीवार से सटी चुपचाप बैठी है
और मैं हूं कि दीवानों की तरह प्रश्न पर प्रश्न उछाले चला जाता हूं
एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं पाता हूं ।

नहीं, मैं अकेला नहीं हूं ।
मेरे जैसे और भी हैं कुछ दीवाने
जो, जमी हुई सीलन वाले इस ठंडे संसार में
रहते चले आ रहे हैं
और आग को पिघला कर पानी बना रहे हैं—
या जमाये डाल रहे हैं अपनी हड्डियों की मज्जा,
सहज आग की चमक से पानी पर चढ़ा रहे हैं शान
और इच्छाओं की अंधेरी कंदराओं पर
रोशनी की पर्तें जड़ रहे हैं ।

संगमरमर की तरह गोरी, उमंगों नहायी एक तरुणी
शब्दों के बियाबान बंजर में
इच्छाएं गुदगुदाते हुए टहल रही है
अर्थवान् अभिव्यक्तियों की मुस्कराहटें
बिखेर जाती है
मीठी अनुभूतियों के स्पर्श ।

अलगाव की कड़ुवाहटों में मिश्री घुल जाती है
एक नयी रचना की आंख खुल जाती है।

रचना की आंख को खोलता है कवि
जो झूमती हवाओं के गदराए बदन पर
सहलाता है गिरि शिखरों के स्पर्श
लदे फंदे बादलों को गेंद-सा उड़ाता है
मदमाते हाथियों की तरह कभी उन्हें
और भी अधिक कर देता है मद विह्वल
खुल जाते हैं आकाशी मधुचषकों के ढक्कन
और अमृत की जल-चादर ढुलकने लग जाती है
उठने लग जाती है एक सुहानी देहगंध···
गंध जो आत्मा के अंतर्कपाटों तक दस्तक देती है
एक अनजानी दुनिया से सुगबुगाकर उठने लग जाते हैं बाहों के गुलाब
बहने लग जाता है चेतना-शून्य नीड़ों से सरसराहटों का साऽरेऽगाऽमाऽ

मरी हुई आशाओं के ठंडे सीनों पर
हवा मारती है जादुई फूंक
और ठंडी आग की लपटें धीरे-धीरे टहलने लग जाती हैं।
हर रास्ते पर
खड़ा है समय
जिसकी शाश्वत अरूपा देह से
छिटकती रहती हैं लगातार पहेलियां
कि
ये आत्माएं
ये दिल
ये पाखी,
ये फूल
इस जमी हुई सीलन वाले
ठंडे संसार में किसे लगातार निहारे चले जा रहे हैं?
किसलिए अपनी ज्योतित आत्मा को
निर्वसन करके
देह की मिट्टी को कर रहे हैं पलीत?
आखिर ब्रह्मांड की यह महान् दुर्घटना

है क्या,
जहां निरे गद्य ने कविता की रंगतें पकड़ ली हैं ?
मिटटी से कैसे फूटी गंध ?
और कैसे हैं हवा के वे कांधे
जिन पर बैठाकर वह गंध को टहलाती है ?

इस हादसे के नियंता
कुछ तो होंठ खोल—
कि आखिर तू है तो क्या है,
आया है तो कहां से ?
धीमे स्वरों में ही बोल—
कि क्या पानी पर चलने की सजा
होती है सूली, जिसे ईसा ने सहा ?
जरथुस्त्र के बारे में भी तो तूने कुछ नहीं कहा,
जिसने जन्म लेते ही बिखेरी थी मुस्कान
और बदले में मरोड़ दी गयी उस मुस्कान की गर्दन ?
मैंने भी जब उतारना चाही तुम्हारी आग पानी में
तो मेरा पानी भी महज राख होकर क्यों रह गया ?
ये तमाम मेरे अनुत्तरित प्रश्न
मुझे दर दर भटकाते हैं
और अंत में जब मुझे उत्तरों की महाश्वेता
तक ले जाते हैं
तो देखता हूं कि वह अपने एकांत पर्णकुटीर में
प्रश्नों पर पर्दा डाले, दीवारों से सटी चुपचाप बैठी है
और मैं प्रश्न पर प्रश्न उछाले चला जाता हूं
एक भी प्रश्न का उत्तर नहीं पाता हूं ··
लेकिन मैं ही अकेला नहीं हूं
मेरे जैसे कुछ और भी दीवाने हैं जो
उत्तर पाने की इंतहाई बेचैनी में लगातार जी रहे हैं।

अनुवाद : कन्हैया लाल नन्दन

कश्मीर के प्रसिद्ध संगीतकार एवं विद्वान—

पंडित दयाराम 'खुशदिल'

—अब्दाल अहमद 'महजूर'

पंडित दयाराम खुशदिल काचरू कश्मीर के पारंगत संगीतज्ञ थे जो लगभग दो सौ वर्ष पूर्व अफगान सूबेदार अब्दुल्लाह खां अलकज़ोई के समय में थे। यह वह समय था जब कश्मीर पर अफगान बादशाह अहमद शाह अब्दाली के उत्तराधिकारी शासन कर रहे थे। यह वह ज़माना था जब मध्य एशिया के बहुत से संगीतकार घूमघाम कर कश्मीर आते होंगे और इस पुष्पवाटिका के रूप-सौन्दर्य को अपनी कला से निखारते होंगे। उस समय मुंशी के पद पर होने के कारण 'खुशदिल' को संगीत सभाओं में सम्मिलित होने का अच्छा अवसर मिला होगा। इन सभाओं में काफी समय तक बैठकर इन्होंने संगीत कला से सम्बन्धित कुछ पुस्तकों का प्रणयन किया, जिनमें 'तरानै सरूर' और 'करामति मुजरा' बहुत ही महत्त्वपूर्ण हैं। हमारी रियास्त जम्मू व कश्मीर की रिसर्च-लाइब्रेरी में कश्मीरी संगीत कला पर जो पुस्तकें उपलब्ध हैं उनमें अधिकतर विभिन्न 'मुकामों' के गीत लिखे गये मिलते हैं। 'मुकाम' कश्मीर के शास्त्रीय संगीत या सोफियाना मौसीकी में विभिन्न रूपों को कहा जाता है।

दयाराम खुशदिल की पुस्तक की एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी है कि उसमें और बातों के अतिरिक्त भूमिका भी दी गई है जिससे यह बात सिद्ध होती है कि वे संगीत-कला के बहुत ही पारखी एवं धनी आलोचक थे। शास्त्रीय संगीत पर कुछ लिखना और इसकी व्याख्या करना बहुत ही कठिन काम है। कठिन इसलिए कि यह 'मुठ्ठी में पानी रखने के समान है।' अपनी पुस्तक में स्वयं एक स्थान पर अफलातून के इस कथन का वर्णन करते हुए वे कहते हैं कि संगीत कला अर्थात् हवा को रस्सी में बांधना, यूनानी भाषा में 'मौ' गंठ को कहते हैं 'सी' का अर्थ 'पर' होता है और 'की' हवा को कहते हैं अर्थात् हवा को बांधना जो एक असम्भव बात है। सम्भवतः यही कारण है कि संगीत से सम्बन्धित बहुत कम पुस्तकें उपलब्ध हैं।

पुस्तक की भूमिका में कुछ कथायें मिलती हैं जिन में कुछ का सम्बन्ध हिन्दुस्तानी

देवमाला से है और कुछ अरब के 'असातीरस' (माईथोलॉजी) से सम्बन्धित हैं। ऐसी एक कथा इस प्रकार है—"हज़रत मूसा ने एक दिन 'नील' नदी में एक पत्थर देखा और वह यह देख कर प्रसन्न हुए। इसी समय एक फरिश्ता उनके सामने उपस्थित हुआ। फरिश्ते ने हज़रत मूसा से कहा कि यह पत्थर उठाइये। यह मौसीकी है, किसी दिन आपके काम आयेगी। एक दिन हज़रत मूसा को अपने लोगों के साथ चालीस दिन तक एक मरुभूमि में रहना पड़ा। पानी का वहां अकाल पड़ गया। हज़रत मूसा ने भगवान से प्रार्थना की। फरिश्ता फिर उपस्थित हुआ और हज़रत मूसा से कहा— या मूसा! अपनी छड़ी को इस पत्थर पर मारिये। यह कह कर फरिश्ता फिर अलोप हो गया। हज़रत मूसा ने छड़ी पत्थर पर मारी जिस से उस में बारह सुराख हो गये। हर एक सुराख में से एक चश्मा फूट पड़ा। इन चश्मों से विभिन्न प्रकार की ध्वनियां निकलीं। लोगों ने पेट भरकर पानी पिया लेकिन हज़रत मूसा इन मधुर ध्वनियों में खो गए। हज़रत मूसा ने इन ध्वनियों को कंठस्थ किया। यही बारह ध्वनियां बारह 'मुकाम' हैं। इन 'मुकामों' के नाम हैं—'रास्त', 'अशाक', 'बोसलीक', 'नवा बुज़र्ग', 'असफहान', 'ज़ेरिअफगन', 'अराक', 'ज़ंगोला', 'हुसैनी', 'रहावी' और 'हजाज'। कहा जाता है कि हज़रत मूसा 'मुकाम अशाक' में मुनाजात करते थे। 'मकान अशाक' में जब 'मा, गा, रे, सा,' स्वरों को गाया जाता है तो उस समय मन में अजीब भाव उत्पन्न होते हैं। आजकल इन में से कुछ 'मुकामों' को हिन्दुस्तानी नामों से भी पहचाना जाता है, जैसे 'अशाक' को 'बहार' कहते हैं, 'बोसलीक' को 'धनाश्री' कहा जाता है और 'हजाज' को 'बिहाग' कहते हैं।

पुस्तक में विभिन्न स्वरों की व्याख्या भी की गई है। जैसे संगीत या गाने वाले के गले के सात स्वर और आठवां स्वर जो पहले स्वर की द्विगुनित ध्वनि हैं। यह वह स्वर है जहां पर कंठ से ध्वनि अबाध गति से निकलती है। इस से कंठ का माधुर्य स्पष्ट हो जाता है। इस स्वर का उल्लेख करते हुए वे लिखते हैं कि यह ऐसा स्वर है जो पर्वतों के बीच घूमकर आता है, अथवा जब वायु की लहरों से फूलों की क्यारियां खिलती हैं और सारी सृष्टि भगवान के स्मरण में तल्लीन होती है। जिस व्यक्ति को इस अवस्था का ज्ञान होता है, उसी को भगवान का साक्षात्कार हो जाता है। यह गीत मानव मन के अन्तःस्तल से निकलता है।

दयाराम खुशदिल ने सोफियाना मौसीकी की तालों की भी व्याख्या की है क्योंकि शास्त्रीय संगीत में 'ताल' का महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारण तालें जो इस समय गाने के प्रयोग में लाई जाती हैं, इस प्रकार हैं—हजज़, युरोय, यक, स्यहताल, युयक, तुर्की ज़र्ब, ज़र्ब फाखता, 'खानी' और 'चप अन्दाज़'।

दयाराम खुशदिल ने इन तालों के बोल भी लिखे हैं। साधारण ताल (जिस में लोक-गती ही अधिकतर गाये जाते हैं) को तीन रूपों में दिखाया गया है। एक चप रूपी ताल के विषय में कहते हैं कि इसको कश्मीर के दाऊद राजा ने बनाया है लेकिन कुछ स्थानों पर इसने

खानी और चप रूपी ताल को एक ही रूप में वर्णित किया है। 'मुखमस', 'नीमदोर' और 'नीम सकील' ताल की जो इन्होंने तालिका बनाई है, वह बहुत ही महत्वपूर्ण है। तालिका इस प्रकार है—

मुखमस	—	ज़र्ब संख्या ५	—	पैवस्त-३, अगल २
नीमदोर	—	ज़र्ब संख्या ४	—	पैवस्त-३, अलग १
नीम सकील	—	ज़र्ब संख्या ७	—	पैवस्त-४, अलग ३

कश्मीर के आधुनिक संगीतकार गुलाम मुहम्मद साज़नवाज़ के साथ मैंने इन बड़ी तालों के विषय में बात की। उन्होंने कहा कि तालों के सम्बन्ध में विशेषकर बड़ी तालों के संदर्भ में दयाराम खुशदिल की यह तालिका ठीक है। दयाराम खुशदिल ने मुखमस खफीफ का भी उल्लेख किया है और गुलाम मुहम्मद साज़नवाज़ इस विषय में कहते हैं कि उस्ताद रमज़ान जू ने इस ताल में 'मुकाम नवाह' का एक गीत गाया है जिसको रेडियो कश्मीर ने रिकार्ड भी किया है और जो इस समय भी टेप-लाइब्रेरी में उपलब्ध है। गीत की एक पंक्ति इस प्रकार है—

"जुदा हरगिज़ न करदद अज़ दिलम यार ईं चुनीं बायद"

इसके अतिरिक्त इन्होंने इन फारसी तालों के साथ-साथ हिन्दुस्तानी शास्त्रीय-संगीत की तालों का भी वर्णन किया है और उस्तादों के पास बैठकर इनको सही रूपों में प्रस्तुत किया है। जैसे 'नीम सकील' ताल की तुलना में हिन्दुस्तानी शास्त्रीय-संगीत में 'सात ताल' का उल्लेख किया है और 'समारी' एवं 'शाही' ताल की तुलना में 'वहस्त' ताल को प्रस्तुत किया है। इसी तरह 'दुर-अफ़शां' ताल के मुकाबले में 'बाराँ-ताल' का उल्लेख किया है। तालों के विषय में खुशदिल का शोध-कार्य बहुत ही महत्त्वपूर्ण है।

आप लिखते हैं कि कश्मीर के उस्तादों में हाफिज़ सखी और मुहम्मद अमीन गंजू के नाम उल्लेखनीय हैं। हाफिज़ मुहम्मद अमीन को 'सुम-ताल' का अच्छा ज्ञान था। मुहम्मद अकरम खां भी तालों के अच्छे ज्ञाता थे। यह अपने नेत्रों, भ्रू एवं होंठों के संकेतों द्वारा मौसीकी के रंग दिखाते थे। कहा जाता है कि कश्मीर का नानकचन्द वसूल नवाज़ था लेकिन तालों के विषय में उनको कुछ भी जानकारी प्राप्त न थी। इसके अतिरिक्त आपका कहना है कि बाद में धीरे-धीरे उन्होंने कश्मीरी तालों की जानकारी प्राप्त की। लेकिन नज़ाकत, आकर्षण और स्वरों का आरोह-अवरोह आदि महत्त्वपूर्ण बातों का ज्ञान एक बड़े कलाकार को ही होता है। 'करामति-मुजरा' नामक पुस्तक में दयाराम खुशदिल ने विभिन्न 'मुकामों' के फारसी और कश्मीरी गीत विभिन्न तालों में लिखे हैं, जैसे 'मुकाम-बहवास' मे उन्होंने यह गीत लिखा—

"ज़ोक यार स्दें घरि बाल द्रायस
पावतन पायस ब्येस म्योन यार"

इसी प्रकार इन्होंने राग भैरवी में भी एक गीत लिखा है। यूसुफ शाह कश्मीरी के विषय में आप लिखते हैं कि इन्होंने बहुत से कश्मीरी गीतों को सोफियाना मुकामों में समाहित

किया है। सम्भवत: यह उल्लेख यूसुफ शाह चक के विषय में है। यूसुफ शाह चक कश्मीर के एक प्रसिद्ध बादशाह थे। आप ने सोलहवीं शत्ताब्दी ईस्वी में कश्मीर पर शासन किया। यही वह बादशाह है जिससे मुगल वंश के प्रसिद्ध बादशाह अकबरे-आज़म ने कश्मीर की रियासत को छीन के अपने राज्य में मिला लिया।

'करामति-मुजरा' की एक विशेषता यह है कि इस में बहुत से मुकामों के साथ एक एक 'पेंटिंग' भी बनाई गई है और प्रत्येक पेंटिंग विभिन्न संगीतकारों, हाफिज़ों एवं नर्तकियों को क्रम से प्रस्तुत करती है। इन में जो वाद्य-यंत्र दिखाये गये हैं वे या तो सितार है या साज़। संतूर का कहीं पर उल्लेख नहीं मिलता है। सम्भवत: उन दिनों संतूर कश्मीर नहीं पहुंचा होगा। 'मुकाम वहवास' और 'चहार-गाह' के साथ जो पेंटिग है उसको एक ही कैन्वस पर तीन भागों में विभक्त किया गया है। ऊपर नीला आकाश, कहीं-कहीं बादल और पर्वत, बीच में एक खुली हुई पुस्तक, शायद कोई मुकद्दस पुस्तक, निचले भाग में तान मौसीकार जिन में से एक के हाथ में सितार, लेकिन ऐसा लगता है जैसे कोई साज़ हो, दूसरे के हाथ में कुछ नहीं है लेकिन उस के हाथों की चाल ऐसी है जैसे वह 'वसूल' बजाता हो। भैरवी के सामने भी जो पेंटिंग है, उसके भी यही तीन भाग हैं। दूसरे भाग में निशात बाग में प्रवेश-द्वार के सामने मकान है। अन्तिम भाग में दो पठान हैं, इन के पीछे डाल पर पक्षी बैठे हुए हैं।

'मुकाम गन्धार' के सामने वाली पेंटिग भी तीन भागों में विभक्त है। दूसरे भाग में दो शानदार मकान हैं जिन में से एक झरना फूट रहा है। सामने झील डल है जिस में नौकायें चलती हैं। अन्तिम भाग में एक पालकी है जिस में मुगलों जैसी पगड़ी पहने मौसीकार हाथ में सितार लिये बैठा है। इस साज़ की सात कुंजियां हैं। 'मुकाम-अज़ाल' के सामने जो पेंटिग है उसकी पृष्ठभूमि हरी है, एक नर्तकी जिसके वस्त्र दारचीनी और लाल रंग के हैं। उस का दुपट्टा ऐसा है जैसे वह कोई पंजाबी लड़की हो। इस पेंटिंग से यह भी सिद्ध होता है कि यह बसोहली कलम की पेंटिग है। इस में भी दो मौसीकार हैं।

'मुकाम जनकला' की पेंटिंग इस प्रकार है—राजकुमार और मौसीकार जिनके सामने नर्तकी नाचती है, शीर्ष पर दुपट्टा, पेशवाज़, कटिबंद।

'मुकाम तलंग' के पास जो चित्र है उस का स्वरूप इस प्रकार है—पठान साज़िन्दे, हाथ में वाद्य यंत्र लिए हुए, नर्तकी पूरे बाज़ू वाली कमीज़ और पेशवाज़ पहने हुए, बायां हाथ कमर पर नाचने के अन्दाज़ में, दूसरा हाथ हिलाती है। बालों की दो लटें वक्ष पर, सामने फूलों से भरी डाली जिस पर एक पक्षी बैठा हुआ है।

'मुकाम धनाश्री' के पास जो पेंटिंग है' उसके तीन भाग हैं, एक भाग में दो नर्तकियां हैं जिन के सामने सुराही और शराब के दो प्याले धरे हैं। दूसरे भाग में दो गाने वाले सितार और तबले जैसे वाद्य-यंत्र बजा रहे हैं। तीसरे भाग में भी दो साज़िन्दे हैं।

'बलावल' का उल्लेख करते हुए जो पेंटिंग दिखाई देती है उसके भी तीन भाग हैं— तीसरे भाग में डोल है। इस में दो मौसीकार सब्ज़ लिबास पहने हुए दिखाई देते हैं, इस लिबास पर कहीं-कहीं सोने के दाग हैं, कन्धों पर 'शाल', देखने में यह हिन्दुस्तानी मौसीकार लगते हैं, इनके हाथों में सितार जैसा कोई वाद्य-यंत्र है।

यह एक ऐसा पहलू है जिसकी ओर हमारे चित्रकारों की दृष्टि नहीं गई है। इन चित्रों में उस समय की सभ्यता का प्रतिबिम्ब दिखाई देता है। दया राम खुशदिल की इन हस्तलिपियों का यदि और भी गहनता से अध्ययन किया जाये तो और भी बातें प्रकाश में आ सकती हैं। विशेषकर शास्त्रीय संगीत के वे बहुत सारे गीत उस समय के कश्मीरी संगीत के स्वरूप को स्पष्ट करेंगे जो अब पढ़े ही नहीं जा सकते हैं।

भूगोल नंगा है
सागर के गर्भ के अलावा
गृहयुद्धों से तानाशाही तक
राजनीति का शरीर गंदा है
धर्म और दर्शन के खेत में
जो भी उग सकता था।

—कैलाश वाजपेयी

कहानी

आधे कोस का चान्द

—महाराज कृष्ण शाह

शहर के वीहड़ से दूर, गांव जाने वाली सपाट आवारा सड़क पर पहुंच कर मैंने अपने आपको एकदम अकेला पाया। चारों ओर का घना सन्नाटा जैसे मेरे भीतर से फूट कर मुझ ही में वापिस स्थान पा रहा हो—घिसटते कदमों मैं अनचाहे ही आगे बढ़ता जा रहा था—कानों में अब तक शहर की मोटर-गाड़ियों के भौंपू और गांव में हुए बहुत बड़े दंगे-फसाद का सा शहरी शोर गूंज रहा था। मन में तो कोई साध नहीं, फिर भी एक फिजूल की प्रत्याशा रोज उस फाटक तक ले जाती है जहां कोई पहरेदार नहीं किन्तु मुझे लगता है कि भीतर घुसते ही मुझ पर कोई बुरी तरह टूट पड़ेगा और मुझे बेहाल करके बाहर खदेड़ देगा। जब भी मैं अन्दर कदम रखता हूँ तो फाटक पर बन्धा कुत्ता भौं-भौं करते एक ग़ैर आदमी के घर में घुसने की रार पीटता है। मैं उसे 'टैगर-टैगर' पुकारता हूँ। उसकी खोई हुई यादाशत लौटती है और वह मुझे पहचान जाता है—एक नया परिचय—हर पल का अजनबी जो मुझमें बसता है पहले शायद कभी नहीं था—यही मेरी उपलब्धि है। मेरा हासिल। ठण्डी चान्दनी का लहरिल धुंआ, चुभता हुआ। आंखें अनायास ही भीग जाती हैं—सड़क के किनारों पर लगे वृक्षों की टहनियां बरबस कांप उठती हैं और पत्तों का एक वृत्ताकार मुझे घेर लेता है। मैं पत्तों को पैरों से उछालता हुआ आगे चला जाता हूं, बहुत धीमे हां मैं साक्षी हूँ, बन्धुवर! तुम झर गए, जीवन की नियति इससे अधिक हो भी क्या सकती है? हर जगह मौसम की लाली में निहित मौत का गहरा और कटु अहसास। तीन साल से इस मौसम का इस नगर की सीमा पर मैं साक्षी हूँ—तीन लम्बे अन्तराल······यहां जीवन जब भी शुरू हुआ तो मैंने पाया कि नया लगाया पौधा असमय ही मुर्झा गया और खेत भांग की फसल उगाने को लालायित हैं; उन्हें पता चला है, आदमी ने एक नया तरीका सीखा है कि जीना अन्न से नहीं धन से होता हैं—मैंने तीन साल यहां रह कर हर चेहरे पर ये शब्द अंकित देखे सच! मैं साक्षी हूँ? .. किस तत्परता और निश्चय की दृढ़ता के साथ मुझे हर रोज सुबह बिस्तर

से उठते ही एक छटपटाहट घेर लेती है—मन कितना उत्तेजित होता है। रग-रग में उस वादे के शब्द उबलने लगते हैं जो पूरे तीन साल पहले सारे गांव में मैंने घोषणा के लहजे में कहे थे—"और लोगों की तरह मेरे शहर जाने का मकसद आवारागर्दी न समझा जाये, मैं एक इरादे से जा रहा हूं और आप लोगों से वादा करता हूं कामयाब लौटूंगा"। वहां उपस्थित लोगों के बीच मेरा अब्बा मेरी बातों से विक्षुब्ध और उदासीन आकाश में उगा आधे कोस का चान्द तक रहा था। उसकी आंखें उस चान्द की चान्दनी जितनी ही फीकी और त्रस्त लग रही थीं। बार-बार वह एक लम्बा ठंडा उसांस भरता, शायद आगे की बेबसी को वह अनदेखा नहीं कर पा रहा था – मेरी बातें उसे लीडरों के लच्छेदार भाषणों की तरह ज़रा देर के लिए भावुक भी न बना सकीं। उसके अनुसार मेरा शहर जाकर उच्चशिक्षा या नौकरी के लिए कोशिश करना मेरी नासमझी और अधकचरी महत्वाकांक्षा ही थी। वह अपने एक पांव को कब्र में दफना चुका था– खेत नाम को कुछ कनाल की ज़मीन जिसमें आज भी अनाज का अच्छा-खासा हिस्सा ज़मीन के कागज़ी मालिक को देना होता—वह मालिक भी अपने से बदतर हालत का आदमी जिसको 'न' करते खुदाई कहर का डर अब्बा के सिर पर बना रहता बस वही पुरानी घिसीपिटी कहानी जिसे हर सम्भव प्रत्येक निम्नवर्गीय भारतवासी को कोरस में पढ़ाया जाता है। एक अन्तहीन कथा—बाप कोठरी में हुक्का गड़गड़ाते दम तोड़ बैठता है, बहिनें छातियां पीटती हैं और मां .... ओफ ! मां नहीं बस यह लम्बी आवारा सड़क और ठिठुरता रोम-रोम......बन्द मुट्ठियों में तीन साला बासी वादा लेकर रोज़ तड़के मैं किराये के कमरे से निकल कर गली में कदम रखता हूं। सड़क तक आते ही मुट्ठियां खुल चुकी होती हैं वादा फरार हो चुका होता है–शाम को उसी कमरे में जब अपने आपसे फिर भेंट होती है तो सुबह का वादा मेरे पैरों से लिपटी दो इंच धूल और मिट्टी में दम तोड़ चुका होता है—दिल को यही सोचकर तसकीन मिलती है कि एक और दिन बीत गया जैसे आजीवन कारावास का एक लम्बा दिन घट गया।

कुछ भी हो आज उस कमरे में वापिस नहीं जाऊंगा - मुक्ति का छलावा—ज़िन्दगी काटने का अहसास मरने या दिन कट जाने की घिनौनी तसल्ली आज मैं न सह सकूंगा तब फिर इस गति से चलता हुआ मैं कहां पहुंच पाऊंगा–वापिस गांव ? जहां की मात्र कुछ स्मृतियां शेष हैं। बाकी जो भी है .. .. मैं नहीं पहचान पाता वह सब। वह कहते हैं मैं बदल चुका हूं और यह बदलना ही मेरा उनकी दृष्टि में कुछ हो जाना है—यह चान्दनी ! ...हृदय सालने वाली...किसी मायावी सम्मोहन में बेखुद कर एक बार मुझे वह घर लौटाती है जो मैं पीछे बहुत पीछे छोड़ आया हूँ।

घर के आंगन में उतरती शरद् की महीन सी चान्दनी—आंगन से सटे वृक्षों के झालरी साये—मां और ज़ेबा का आंगन में धान कूटना और साराह का बराबर किसी न किसी बहाने आंगन में आकर मुझसे बात करना—कभी जब वह अपेक्षा से अधिक बार आती तो मां उसे छेड़ते हुए कहती, "क्यों री तेरे बाप से बात करके तेरे यही रहने का प्रबन्ध करा दूं"। इठला

कर साराह जवाब देती, "अरे इस झोंपड़ी में रह के सड़ना है मुझे। मैं तो……" और मैं दिल ही दिल में उसके लिए एक छोटा सा साफ-सुथरा घर चुन लेता। कितनी स्वाभाविक और हो जाने वाली बातें लगती थीं यह सब। पर उसी समय न जाने क्यों एक अनजान सी कसक मन में बनी रहती जो आज फैल चुकी है और बहुत गहरा घाव बन चुकी है—उसी हंसी-खुशी के झिलमिल वातावरण में वह घटना भी घटी जिसने मुझे बता दिया कि मेरा हर स्वप्न जीवन की वास्तविकता से नहीं मां की मीठी लोरियों में से जन्मा है जो अब मेरे लिए भद्दी हरकतें हो गई हैं क्योंकि आज उन लोरियों में एक लगातार रुदन सुनाई देता है—इसी बीच एक रोज मैंने अब्बा को अजीब तैयारियों में व्यस्त पाया। बिस्तरे के नाम पर कुछ फटीचर पैबन्द लगे कम्बल, एक मैला सिरहाना जिसके छेदों से जगह-जगह रूई उखड़ रही थी, पुराना धोया हुआ कमीज़ पाजामा और इसी साल गर्मियों में खरीदी गई टोपी—सब सामान कमरे के एक कोने में रखा गया था—सवेरे पौ फटने से पहले मैंने अपने अब्बा को बर्फ की तहों में दबता हुआ पाया—वह चिल्ला रहा था बशीर-बशीर। बर्फ और धुंध में मुझे उसका आधा शरीर धुंधला सा दिखाई दे रहा था—मैं दौड़कर बर्फ की तहों तले से उसे निकालना चाहता था—कोशिश करके भी जब मैं दौड़ न पाया तो मैं हड़बड़ा कर जाग उठा—वही धोया हुआ कमीज़ पाजामा और नई टोपी पहने अब्बा मुझे जगा रहा था—"बहुत देर हो गई साढ़े सात बजे बस निकलनी है, चल उठ, मुझे बस अड्डे तक छोड़ आ—"

मैं हैरान था कि इतने तड़के बस अड्डे पर जाकर कौन सा खज़ाना उठाकर लाना है—"तुम जा कहां रहे हो अब्बा?" कुछ खीझ और कुछ घबराहट में मैंने पूछा।

'जम्मू' उसने संक्षिप्त सा उत्तर दिया और सामान उठाकर चलने लगा। मैं उसका रहस्य भांप कर यन्त्रवत् उसके पीछे चलने लगा।

बटवारे के पश्चात् जिस प्रकार की दशा देश में आये रिफ्यूजियों की हुई होगी, कुछ वैसी ही स्थिति में बिखरे हुए किसाननुमा मज़दूर—ठंड से कम और परेशानियों से अधिक सिकुड़े हुए चेहरे—एक से पहनावे में अपनी एक सी राम कथा कहते, कागज़ के सफेद मुर्झाये फूल……'अरे हबीब भी है……' अब्बा ने चौंक कर कहा। फिर अचानक वह वहां स्थित सब आदमियों को घूरने लगा कुछ ही क्षणों में अम्मी और कादिर भी पहुंच गये। उसे लक्ष्य करके अब्बा कहने लगा, "पट्ठा कहता था कभी नहीं जाऊंगा, बीवी बच्चों को अकेला छोड़कर कैसे जाया जा सकता है, भले ही कम खाओ पर गम न खाओ…पूछता हूँ ज़रा जाकर…"

"जाने दो अब्बा…… अगर तुम भी न जाते तो कितना अच्छा होता।"

"बशीर! बेटा ज़ेबा अब बच्ची नहीं, कम से कम उसकी मेंहदी का इन्तिज़ाम तो करना है…… और फिर घर पर भी तो कोई रहना चाहिए……।"

"अब्बा मेरी मानो, मुझे ही जाने दो……" मैं अपमान से और अपने प्रति घृणा से दब चुका था—इस उम्र में जब उसे आराम की आवश्यकता थी, वह परदेस में एक-एक पैसे के लिए अपना शरीर घिसेगा…… फिर भी अब्बा चला जाता है, अब भी चला जाता है, बीवी

और जवान बेटी को अकेला छोड़कर कादिर चला जाता है। 'एक जमाना था जब हमें जबरन भेजा जाता था, तब हमने इसे 'बेगार' कहा था। आज हम खुशी-खुशी जाते हैं और अपनी खुशी को कोई नाम भी नहीं दे सकते···

कहते हैं कि जहां धुंआ है वहीं आग होती है लेकिन यहां धुंआ ही धुंआ है आग क्या थोड़ी सी उष्मा भी नहीं—जहरीला दमघोंटू धुंआ···

सड़क के दोनों किनारों पर दूर-दूर तक फैली पक्की धान की महक मुझे बदहवास सा करती है—मैं नज़दीक जा कर हर धान के पौधे को अलग-अलग सूंघने लगता हूं। सहसा ही कई पौधे मेरे हाथों बुरी तरह मसल जाते हैं और मैं ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाता हूं, "यह हंसी खेत, फटा जाता है जोबन जिनका किस लिए इन में फ़कत भूक उगा करती है"—मैं देखता हूं खेत के बीच में कोई आदमी बिलकुल सियाह कपड़े पहने मुझे हाथ से अजीब इशारे करता है—थोड़ी देर के लिए मैं रुक जाता हूं—हवा के तेज़ बहाव में हाथ के हिलने की गति भी तेज़ होती है। मुझे लगता है खेत के बीच में खड़े होकर अब्बा मुझे बराबर बुला रहा है। हवा का एक अधिक तेज झोंका हिल रहे हाथ को बिलकुल ज़मीन में सुला देता है। मैं कुछ देर ठिठक कर देखता हूं—हवा के धीमे पड़ते ही सब कुछ साफ हो जाता है और मैं सुकून का सांस लेकर आगे चलने लगता हूं और ऐसी ही स्थिति में चलते हुए मैं अनजाने ही उस फाटक के सामने आ पहुँचता हूँ जिसके भीतर जाने के लिए कई क्षण तक मैं एक अनिश्चित ढंग से सोचता रहता हूं—फिर सारी आत्मग्लानि और असुविधा ओढ़ कर भीतर कदम रखता हूं। डा० साहब कुछ देर देखकर भी मुझे अनदेखा कर देते हैं—अनायास ही उनकी भृकुटि तन जाती है और वह अपने आप को 'डिस्टर्बड' पाते हैं, फिर किसी गहरे चिंतन से जैसे फुरसत पा कर मुझे सोफे पर बैठने का इशारा करते हैं और मैं धड़ाम से गिरता हुआ बैठ जाता हूं··· वह दोबारा वैसे ही गहरी सोच में डूब जाते हैं मुझे लगता है कि मैंने बहुत कुछ कहा है और वह मुझसे बहुत जल्द उकता गए हैं और अब मुझे जाने के लिए कह रहे हैं, फिर भी मैं वहीं अपने स्थान पर टिका रहता हूं—पास पड़े मैगज़ीन के पृष्ठ अन्यमनसक ढंग से पलटने लगता हूं—डा० साहब का लेख मेगज़ीन में छपा है "गांधी का राम राज्य और भारत"। इस के बाद मैं किताबों के शेल्फ देखने लगता हूं। अधिकांश किताबें डा० साहब की निजी रची हुई हैं, "काव्य में नारी", दो उपन्यास "लाशें" और "भीमसेन की प्रेयसी", "बेगर्स"···एक सिहरन मेरे सारे शरीर में दौड़ने लगती है। मुझे लगता है अनायास ही मेरे हाथ में एक झोला आ गया है और मैं डा० साहब के आगे भिखारी की तरह गिड़गिड़ा रहा हूं······तभी मुझे सुनाई देता है, "क्या नम्बर था तुम्हारा ?"

"सर, फिफ्टी वन"—मैं जैसे नींद से जागता हूं—जैसे मुझे केवल इसी प्रश्न की प्रतीक्षा थी।

"हां फिफ्टी वन······मुझे याद है······पिछले साल तुमने पास किया था ····क्या डिवीज़न था ····?"

"सर, वो क्या है कि उन्हीं दिनों फादर की 'डेथ' हुई थी······ठीक से तैय्यारी नहीं कर पाया था······।"

—ओ हां······हां······

—इसी लिए सर पोज़ीशन सैकण्ड ही रही मेरी···

—कौन आये हैं ? कौल साहब हैं क्या, बहुत दिनों बाद इधर को फुर्सत······

—नहीं यह बशीर हैं—अपनी पत्नी मिसेज़ वर्मा से लगभग बौखला कर मिस्टर वर्मा उर्फ डा० साहब सम्बोधित हुए—मुझे लगा कि यह डांट मुझे बताई गई है, मेरा चेहरा लटक सा गया।

"मैं गोरखा साहब से बात करूंगा। कल आना तुम"--डा० साहब मुझे आश्वासन के स्वर में कह रहे थे।

"कब से बैठे बातों का रस ले रहे हो। सन्तू आज भी नहीं आया, कितनी बार कहा है सर्दियों के आते उसे घर मत जाने दिया करो, बाज़ार से सब्ज़ी कौन लाये, चीनी और घी नहीं है······इस ने तो मुझे सवेरे से घेर रखा है एक सैकण्ड भी नहीं सोती······" एक सांस में मिसेज़ वर्मा ने मिस्टर वर्मा को जवाबी झाड़ सुना दी—इस बार मुझे लगा कि मिसेज़ वर्मा बरामदे से निकल कर मुझे बुरी तरह डांट कर कहेंगी—"सुना नहीं तुम ने। बाज़ार से सब्ज़ी, घी और चीनी······" मैं ज़रखरीद ग़ुलाम सा मिसेज़ वर्मा के आगे खड़ा होकर पूछने लगा, "सब्ज़ी, घी और भाभी···?" तलख निगाहों से एक कुटिल मुस्कान के साथ वह अपना पर्स खोल कर मुझे दस रुपये के दो नोट थमाते कहने लगी—"एक किलो चीनी भी···"

"—आ जा मुन्ने राजा तुझे बाज़ार घुमा लायें······आ प्यारे बेटा······शाबाश अच्छे राजा।"

मुन्नी को गोद में उठाकर मैं ने फ़ाटक पार करके पहले अपने आप को एक जकड़न से मुक्त किया फिर हवा में सीटी बजा कर भर्राये गले से गाने लगा, "नातुवानों के निवालों पे झपटते हैं उकाब, बाजू तौले हुए मंडलाते हुए आते हैं।"

मुन्नी झाड़ने के अन्दाज़ में टोक कर कहने लगी, "यह क्या बकवास गाते हो अंकल, वो गाना गाओ ना "जूली आ'य लव यू'। मैं गला साफ करता हूं और थूक निगल कर गले का टेस्ट लेता हूं, सहसा ही मुझे लगता है कि मेरा गला रुंध गया है और मैं बिलकुल गा नहीं सकता। एक हिचकी सी मेरे गले तक आकर रुक जाती है—मेरी नज़रें विस्तृत आकाश में खिले पूरे चान्द को तकती हैं—एक बारगी तीन साला पुरानी भीड़ मेरे सामने घूम उठती है। मैं उसी भाषण के लहजे में कह रहा हूं—"तुम लोग मुझे यहां रोक के सब से बड़ी भूल करोगे। मुझे शहर में अपना भविष्य बनाना है"···उस छोटे से जमघटे के बीच एक बार फिर वह अकिंचन आंखें उठती हैं और मेरी आंखों से मिल जाती हैं जिनके लिए यह चान्द आधे कोस से ज़्यादा कभी नहीं उगा।

दलदल मेरा और मेरे हमशक्लों का

—महाराज कृष्ण सन्तोषी

आसपास फैले इस दलदल में
ज़िन्दगी को
एक फंसे हुए पहिये की तरह
ढो रहा हूं
तथा खुद से लज्जाता हूं
जब मेरे ही बेशुमार हमशक्ल
और ज्यादा गहरे दलदल में
फंसे मुझे निहारने लगते हैं।
सोचता हूं—
कितने भोले हैं
मेरे ये हमशक्ल।
जो स्वयं को एक दूसरे से
छिपाना चाहते हैं
अपने दलदल को
एक कालीन सा प्रदर्शित कर
चतुराई में आगे निकलना चाहते हैं।
(क्योंकि प्रदर्शन और चतुरता
आधुनिक मुहावरा है)

अकेला
मैं अपने दलदल में
देख रहा हूं
यह सब चुपचाप
मुझे आज तक किसी ने
पहचाना नहीं है
हालांकि अपने हमशक्लों के मध्य
मैंने अपने ख्यालों के पोस्टर
बांटे हैं
उनसे सलाह मांगी है

सहयोग मांगा है
मगर सदा मुझे
यह कहकर टाल दिया गया है
(शायर दीवाना होता है)
कुछ देर
विचारों की कुटिया में
धूनी जलाकर
बीते हुए समय का
मंत्रोच्चारण करता हूं
जब कवि सृष्टा था
सबसे श्रेष्ठ था
आज स्थिति यह है
कवि से बड़ा है अभियंता !
अपने दलदल के
एक किनारे पर आकर
मैं बहुत उदास बैठा हूं
किसी ने धीरे से
मेरे कानों में कहा—
'यहां सम्भावना है
कि मौसम इसी प्रकार
खराब बना रहे
और धूप
शायद कभी दिखाई न दे।'
कान बंद करके
मैं चिल्लाता हूं
मेरे परवरदिगार !
कुछ ऐसा करो
कि यह कभी न सच हो।
कि यह आदमी झूठा साबित हो
और यह कि जो उसने कहा है
वह कभी, कभी भी सच न हो।

कश्मीर में नृत्य—इतिहास के दर्पण में

—अवतार कृष्ण राजदान

भारत के प्रत्येक प्रदेश की अपनी नृत्य परंपरा रही है। अपनी इसलिए, क्योंकि नृत्य पर संबंधित प्रदेश के जलवायु तथा लोगों के रहन-सहन और व्यवसाय की अलग-अलग छाप प्रत्यक्ष पड़ती है। पंजाब का 'भांगड़ा', असम का 'बेहो', मध्य प्रदेश का 'बेसाखो' आदि इस बात का प्रमाण हैं। कश्मीर में भी नृत्य का अपना जीवन-इतिहास है। यहां समय-समय पर कई ऐसे नर्तक एवं नृत्यांगनाएं हुई हैं जिनकी यश-कीर्ति की किरणें सारे भारत में फैली हुई थीं। कल्हण के अनुसार यहां नृत्य का प्रदर्शन प्राय: मंदिरों में किया जाता था। महाराजा जलूक के राजत्वकाल में एक सौ से अधिक नृत्यांगनाएं ज्येष्ठेश्वर मंदिर में स्थायी तौर पर रह कर नृत्य-प्रदर्शन करती थीं।[1] सुप्रसिद्ध संस्कृत कवि बिल्हण ने अपनी काव्यकृति 'विक्रमदेवचरितम्' में यहां के नृत्य का वर्णन करते हुए लिखा है कि कश्मीरी नृत्यांगनाएं अपनी नृत्य कला में प्रवीण थीं। इनके नृत्य की तुलना रंभा, चित्रलेखा तथा उर्वशी जैसी स्वर्गिक अप्सराओं के नृत्य से हो सकती थी।[2] इसी प्रकार दामोदर गुप्त ने 'कुट्टनिमतकाव्य' में लिखा है कि यहां नृत्य का प्रदर्शन प्राय: उस समय किया जाता था जब कोई धार्मिक या सामाजिक उत्सव हो।[3] इन सभी तथ्यों से यह प्रतीत होता है कि कश्मीर में नृत्य की परंपरा प्राचीन रही है और यही कारण है कि चौथी शती से सातवीं शती तक के अन्तराल में यहां कई नृत्य मंडलियां कायम हो गयी थीं। यही वह समय है जब यहां हर एक मंदिर या देवस्थान के अपने गायक, वादक तथा भगवान की विभिन्न लीलाओं का नृत्य द्वारा प्रदर्शन करने के लिए नृत्यांगनाएं एवं सूत्रधार होते थे। इसका प्रत्यक्ष प्रमाण हमें उन मृण टिकड़ियों से मिल सकता

---

१. राजतरंगिणी, तरंग ६, श्लोक १५१

२. विक्रमदेवचरितम्, भाग १८, श्लोक २३, २६

३. कुट्टनिमत काव्य, भाग ५, श्लोक ६६

है जो इस समय श्री प्रताप संग्रहालय (श्रीनगर) में सुरक्षित हैं।[४] हारवन में प्राप्त ये मृण टिकड़ियां चौथी शती की बताई जाती हैं। इन पर कई चित्रों का रेखांकन उपलब्ध है। जैसे एक नर्तकी नाचती है तथा इसके आस-पास पंक्ति में बैठे संगीतकार बांसुरी, मंजीरा तथा ठुमक-ठुमक कर ढोल बजाते हैं। इन सभी मृण टिकड़ियों को देख कर लगता है कि उस समय कश्मीर में नृत्य कला खूब पनपी थी तथा यह धार्मिक-क्षेत्र से निकल कर लोगों के मनोरंजन का मुख्य साधन बन गयी थी। इसके अतिरिक्त इनसे यह भी प्रमाणित होता है कि उन दिनों इस लीला-स्थली में नृत्य कला इतनी चर्मोत्कर्ष पर थी कि नक्काश एवं चित्रकार भी इससे प्रेरणा लेकर चित्रों का अंकन करते थे।

कश्मीर में प्राय: चार बार लोगों को नृत्य करने का सुअवसर प्राप्त होता था। एक उस समय, जब यहां कोई धार्मिक उत्सव हो। इस दिन यहां के मंदिरों में भगवान् की विभिन्न लीलाओं का प्रदर्शन नृत्य द्वारा किया जाता था। दूसरा उस समय, जब यहां कोई सामाजिक उत्सव हो, जैसे शादी-ब्याह आदि। तीसरा उस समय, जब यहां कृषि-संबंधी त्योहार हो, जैसे बीज बोना या फसल काटना तथा अंतिम उस समय, जब यहां वर्ष का सबसे पहला हिमपात होता था। इन सभी अवसरों पर यहां किन शैलियों में नृत्य-प्रदर्शन किया जाता था—यह सब गुमनामी के गर्त में लीन हो गया है। अलबत्ता इतना तो ज़रूर है कि धार्मिक उत्सवों को छोड़, शेष सभी अवसरों पर यहां नृत्य करने की प्रथा आज भी कायम है। जहां तक धार्मिक उत्सवों पर नृत्य करने का संबंध है, राबर्टसन के अनुसार इस प्रकार का नृत्य आजकल कश्मीर के सीमांत प्रांत हिन्दूकुश के काफ़िरों में प्रचलित है। नृत्य तो वे धार्मिक उत्सवों पर ज़रूर करते हैं, किन्तु वे इसमें भगवान या खुदा की लीलाओं का प्रदर्शन नहीं करते, बल्कि इसमें अपने नेता या प्रिय के अच्छे कामों की चर्चा होती है।[५] यह नृत्य ढोलक की गहन-गम्भीर थाप से शुरु हो जाता है तथा इसमें पुरुष-पात्र ही भाग लेते हैं। हो सकता है कि कश्मीर में बहुत पहले धार्मिक उत्सवों पर इसी तरह का नृत्य प्रचलित रहा हो जो अब इस सीमांत-प्रांत तक ही सीमित रह गया है। शादी-ब्याह पर यहां इस समय भी नृत्य करने का प्रचलन है। इन अवसरों पर 'मेंहदीरात' के दिन हिन्दू तथा मुसलमान परिवारों में प्राय: 'छकरी' का गायन होता ही है, किन्तु हिन्दू-परिवारों में होने वाले शादी-ब्याह में सुन्दर एवं सजीली स्त्रियां एक विशेष प्रकार का नृत्य करती हैं जो ध्यान देने योग्य है। इस प्रकार का नृत्य प्राय: दूल्हा के बारातियों समेत सुसराल जाने के बाद होता है। घर की सारी महिलाएं जिनमें आतिथेय महिलाएं थी सम्मिलित होती हैं, पहले एक रंगोली सजाती हैं, फिर इस पर 'वनवुन' अर्थात लोकगीत गाती हुई नाचती हैं। यहां शादी-ब्याह पर इस तरह नाचने की प्राचीन परंपरा रही है तथा कश्मीरी में इसको 'वीगि वनवुन' या 'वीगि नचुन' कहते

---

४. R. C. Kak—(Ancient Monuments of Kashmir)
Plate Nos XXVIII & XVII.

५. 'Kafir's of Hindukush' by Robertson Ch. XXXIII

हैं। यह नृत्य तब तक चलता रहता है जब तक सारी महिलाएं रंगोली पर एक-दो फेरे न लगायें। इस तरह की नृत्य-प्रणाली में किसी साज़ का प्रयोग नहीं होता।

कृषि-संबंधी त्योहारों पर यद्यपि इस समय यहां नृत्य करने का कोई प्रचलन नहीं, फिर भी बीज बोने, निराई करते या फसल काटते समय रसमय गीत गाये जाते हैं। फसल-कटाई के पश्चात् अनाज कृषकों के घर पहुंच जाने के बाद किसान गांव के सांझे पीर का शुकराना न दे लें तो उन्हें संतोष नहीं होता क्योंकि इनकी आस्था है कि उनकी कृपा से ही इनका परिश्रम सफल हुआ है। कहा जाता है कि फसल-कटाई पर यहां भी नृत्य किया जाता था, ठीक उसी तरह, जिस तरह पंजाब में 'भांगड़ा' किया जाता है। किन्तु १३वीं शती के बाद किसी कारणवश यहां इस प्रकार के नृत्य का प्रचलन नहीं रहा। वर्ष के पहले हिमपात के दिन भी यहां नृत्य किया जाता था किन्तु इस प्रकार का नृत्य किसी भी शैली में सुरक्षित नहीं। फिर भी विद्वानों का कहना है कि इस समय यहां पहले हिमपात पर लोग जो 'शीन-जंग' करते हैं, वही इसका प्रतिरूप हो सकता है।

कश्मीर में कई शताब्दियों तक नृत्य राजदरबारों की शोभा बना रहा है। ललितादित्य मुक्तापीड़ के शाही दरबार में इन्द्रप्रभा नामक एक नृत्यांगना स्थायी तौर पर रहा करती थी। उस समय प्रेक्षक उसकी नृत्यकला से इतने प्रभावित हुए थे कि वे इसको स्वर्गपुरी से इन्द्र द्वारा प्रेषित अप्सरा मानते थे। इसके अतिरिक्त यही वह समय रहा है जब राजदरबार में आयोजित नृत्य-सभाओं में निम्न-वर्ग की लड़कियों ने भी भाग लेना शुरू किया। यहां तक कि कई राजाओं ने बाद में इनको अपनी महारानी बना लिया। उदाहरणस्वरूप उत्पल वंशीय चक्र वर्मन ने तत्कालीन दो नृत्यांगनाओं के साथ शादी की जिनका नाम था नागलता और हंसा[६]। मुसलमानी राज्यकाल के राजाओं में सुलतान जैन-उल-आब्दीन 'बडशाह' ने सबसे पहले अपने शाही दरबार में नृत्यांगनाओं को नृत्य-प्रदर्शन करने के लिए प्रोत्साहित किया। तारा, दीप माल, रत्न माल और नृपमाल इनके दरबार की शाही नृत्यांगनाएं थीं। इनमें तारा नृत्य की ४६ भाव-भंगिमाओं का प्रदर्शन करना जानती थी। इसके राजत्वकाल में हुई नृत्य एवं रंगमंचीय गतिविधियों पर प्रकाश डालते हुए श्रीवर 'जैन-राजतरंगिणी' में लिखते हैं—'रंगमंच मानो एक सुन्दर बाग की तरह होता था। इस पर पंक्ति में दीपक जलाये जाते थे। इसके सामने प्रेक्षक मद्यपान में ऐसे मस्त रहते जैसे मधुकर रंगारंग फूलों का रस लूटने में मस्त रहता है। रंगमंच पर नृत्यांगनाएं ढोल के 'तत' पर कभी दायीं, कभी बायीं टांग उठाकर, कंधे-कलाइयां नचाकर, कमर और कूल्हे लचका कर और हाथों को मटका-मटका कर, कभी उठकर और कभी बैठकर नाचती थीं। इनके द्वारा इस प्रकार का नृत्य-प्रदर्शन देखकर प्रेक्षक झूम जाते और उनकी खूब वाह-वाही होती।' चक वंश के राजाओं ने भी यहां नृत्यकला को विकसित करने में अपना अनुपम योगदान प्रदान किया, किन्तु बाद में यहां राजनैतिक हलचल का युग शुरू होने के परिणामस्वरूप रंगमंचीय गतिविधियां ठप्प

६. राजतरंगिणी, तरंग ५, श्लोक ३६१.

होकर रह गयीं। फिर भी यहां के कुछ स्थानीय कलाकार इस भागते हुए समय के दामन को थामने के भरसक प्रयत्न करते रहे। यही कारण है कि कश्मीरी नृत्य की कुछ प्राचीन शैलियों के अंश आज भी किसी न किसी रूप में सुरक्षित पाये जाते हैं और इन्होंने अब लोक-नृत्य का रूप धारण कर लिया है। इनमें से कुछ एक का सविस्तार वर्णन इस प्रकार किया जाता है—

रोफ—'रोफ' कश्मीरी लोक-नृत्य का बहुप्रचलित रूप है। इसका शाब्दिक अर्थ है नाचना और गाना। इसको सामूहिक गान भी कहते हैं। यह नृत्य प्राय: मुसलमान ललनाएं विवाह या ईद के अवसर पर करती हैं। सुन्दर परिधान पहने ये ललनाएं घर के आंगन में पहले दो टोलियों में बंटकर एक-दूसरे के कंधे पर हाथ रखती हैं। फिर कभी दायां पांव, कभी बायां पांव आगे की ओर बढ़ाकर एक-दूसरे के सम्मुख खड़ी हो जाती हैं और इसी के साथ अपने सुरीले कण्ठ से 'रोफ' गीत का गायन करती हैं। इस तरह पहली टोली की ललनाएं जब रोफ गीत का प्रथम चरण गाती हैं तो दूसरी टोली की ललनाएं इसको मधुर लय के साथ दोहराती हैं। इस प्रकार यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक रोफ गीत समाप्त न हो जाये। 'रोफ' नृत्य पुरुष भी 'बच नगमा' के साथ करते हैं। कई विद्वानों का यह भी कहना है कि 'रोफ' छकरी का प्रतिरूप है क्योंकि छकरी का गायन पहले इसी नृत्य के साथ किया जाता था। छकरी भी सामूहिक रूप से गायी जाती है और रोफ-नृत्य भी सामूहिक रूप से किया जाता है। सम्भवत: कश्मीर में रोफ-नृत्य करने की प्रणाली ह्वण वंशीय राजाओं से चली आयी है। इसका प्रमाण हमें कल्हण कृत राजतरंगिणी के उस उल्लेख से मिलता है जिसमें कहा गया है कि मिहिर कुल वंशीय राजा भीष्मकार के राजत्वकाल में यहां के संगीत में कुछ ऐसे वाद्य बजाने का प्रचलन था जो स्थानीय थे, जैसे घंटा, पीतल के बर्तन, चुमटा आदि।[७] आज भी छकरी में लगभग यही वाद्य बजाये जाते हैं। रोफ के संबंध में कई अन्य विद्वानों का यह भी कहना है कि यहां यह मुसलमानी राजाओं के राजत्वकाल से प्रचलित रहा है क्योंकि इसके प्राथमिक गीतों में अरबी एवं फारसी शब्दों की प्रचुरता पायी जाती है।

दमाल्य—कश्मीरी लोक-नृत्य का दूसरा बहुप्रचलित रूप है 'दमाल्य' या दंभाली। 'दमाल्य' का शाब्दिक अर्थ है उछल-कूद। इस नृत्य प्रणाली की शैली अब लुप्तप्राय हो गयी है, फिर भी इसकी आत्मा अमर है। राजतरंगिणी में वर्णित है कि कश्मीर के वातल (भंगी) प्राचीन काल से ही नृत्य, नाटक और संगीत में रुचि लेते थे। इनके संबंध में यह भी कहा जाता है कि इन्होंने ही यहां वायल, नगाड़ा, सारंगी या वातल सारंग का आविष्कार किया है। जिस शैली में इस समय दंभाली का नृत्य-प्रदर्शन किया जाता है, उसको 'वातल-दमाल्य' कहते हैं। यह नृत्य शहनाई तथा नगाड़ा बजने से शुरू हो जाता है। वातल-समाज में इसके नर्तकों को 'नाग-कूर' कहते हैं। कई विद्वानों का कहना है कि कश्मीरी भंगी नाग-वंश परंपरा से संबंध रखते हैं। ये वही नाग हैं जिनको आर्यों ने नीच मानकर कश्मीर के बाहर हिमालय की तराई, नेपाल

---

७. राजतरंगिणी, तरंग ८, श्लोक ६८,८६१.

तथा नेफा की ओर खदेड़ दिया था। यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पूर्वी बंगाल तथा नेफा की सीमाओं पर बसने वाले लोग भी लगभग इसी शैली के आधार पर नृत्य करते हैं। वे अपनी इस नृत्य-प्रणाली को 'दामेल' कहते हैं।

सिद्धगूर—कश्मीरी लोकनृत्य के एक और रूप का नाम है 'सिद्धगूर'। विवाहोत्सव पर जब दूल्हा दुल्हन को घर लाता है तो सगे संबंधी एवं यार-दोस्त खुशी से मचल जाते हैं। इस बीच घर के आंगन में ढोल तथा शहनाई वादकों समेत कोई मर्द नाचता तथा गाता हुआ प्रवेश करता है। यह मर्द मुसलमानी जनाना लिबास पहने हुए होता है। अपने गाये गीतों में वह दूल्हा-दुल्हन के लिए दीर्घायु की कामना करता है।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के बाद कश्मीर में यद्यपि लोक-नृत्य प्रणाली को विकसित करने के प्रयास हो रहे हैं, फिर भी यहां समय-समय पर अन्य प्रदेशों के लोक-नृत्यों को कश्मीरी रूप प्रदान करने के प्रयास किये जा रहे हैं। सन् १९४७ ईस्वी के बाद जब यहां कल्चरल फ्रंट तथा बाद में कल्चरल कांग्रेस नामक संस्थाएं कार्यरत थीं तो स्वर्गीय कर्नल धर्मवीर ने भांगड़ा को कश्मीरी रूप-शैली में प्रस्तुत करने का प्रयास किया था। किन्तु बाद में कल्चरल कांग्रेस के टूट जाने पर उनका यह प्रयास अधूरा रह गया था। कश्मीरी नृत्य के विकास के लिए अभी हमें बहुत कुछ करना है तथा इसकी बची-खुची परम्पराओं को सम्भालने तथा सहेजने की दृष्टि से वर्तमान पीढ़ी का दायित्व विशेष रूप से ध्यानाकर्षित करने वाला है।

दुःख सबको मांजता है
और—
चाहे स्वयं सबको मुक्ति देना वह न जाने किन्तु
जिनको मांजता है
उन्हें यह सीख देता है कि सबको मुक्त रखें।

—अज्ञेय

हिन्दी कविता को नई दिशा

भाग लेने वाले कवि/आलोचक : **डॉ० नरेन्द्र मोहन ; डॉ० बलदेव वंशी**

संचालन : **रमेश मेहता**

रमेश मेहता : जम्मू में हिन्दी साहित्य के विकास से जुड़े व्यक्ति यह जानते हैं कि पहले जब कोई आन्दोलन दिल्ली, इलाहाबाद अथवा वाराणसी जैसे गढ़ों में मृत-प्राय: हो जाता था तो वह जम्मू में पुनर्जन्म लेता था। लेकिन इधर पिछले कुछ वर्षों में यह देखने में आया कि जैसे ही दिल्ली में विचार कविता की बात चली, जम्मू में भी हमारे कवियों ने इस दृष्टि को अपनाया। ऐसे में एक प्रश्न सहज रूप से सामने आता है कि वह कौन सा बदलाव हमारी चेतना, हमारे परिवेश में आया है जिसके चलते दिल्ली के समानान्तर ही जम्मू में भी विचार कविता का उदय हुआ। मुझे लगता है कि अब जम्मू का साहित्यकार पहले की अपेक्षा अधिक सजग और जागरूक है। यही कारण है कि कविता में अपेक्षित बदलाव को उसने उसके सही परिप्रेक्ष्य में पहचाना है और कविता के विकास में विचार की भूमिका को मान्यता प्रदान की है।

दिल्ली से आए डॉ० नरेन्द्र मोहन और डॉ० बलदेव वंशी आज हमारे स्टूडियोज़ में पधारे हैं। अत: मुझे लगता है कि विचार कविता के बारे में, विचार कविता के इन दो प्रमुख हस्ताक्षरों से बातचीत करना अधिक सार्थक होगा। इसीलिए मैं अनुरोध करूंगा डॉ० नरेन्द्र मोहन से कि वे हमें बताएं कि वे कौन से कारण हैं या कौन से दबाव हैं जिनके कारण कविता को अनेकानेक नामों से भूषित करने के बाद अंतत: हमें उसे **'विचार कविता'** का नाम देना पड़ा।

नरेन्द्र मोहन : विचार कविता की शुरुआत हम लोगों ने सन् १९७३ में की थी। कहना चाहिए कि उस समय का दबाव और परिस्थितियां ही कुछ ऐसी थीं जिन्हें

देखते हुए हमें लगा कि कविता में विचार की जो केन्द्रीय स्थिति और अहमियत है, उसे रेखांकित करना जरूरी है। उस समय हमारे सामने अकविता और उग्र वामपंथी कविता के संदर्भ मौजूद थे। अकविता भावनावाद की शिकार हो करके अपने संदर्भों को महज़ धुंधला रही थी और उग्र वामपंथी कविता केवल स्थितियों के रूमानीकृत रूप हमारे सामने प्रस्तुत कर रही थी। इससे उस समय की स्थितियों की न समझ बढ़ रही थी और न उनसे जूझने की प्रेरणा प्राप्त हो रही थी। ऐसे में जबकि एक तरफ भाववादी काव्यात्मक धारा थी और दूसरी तरफ मतवादी काव्यात्मक धारा, हमने इन दोनों धाराओं के बीच में से एक तीसरा रास्ता अपनाया और वह यह था कि हम स्थितियों की समझ को विकसित करके, उनसे जूझते हुए वैचारिक सरोकारों को अधिक पैना और नुकीला बनायें। काव्यात्मक अनुभूति की बनावट में विचार की केन्द्रीय भूमिका को देखते हुए ही तब विचार कविता का प्रवर्तन हुआ था।

रमेश मेहता : इसका अर्थ यह हुआ कि आपने जिस कविता का मुहावरा गढ़ा उसमें विचार की प्रधानता रही और पहले के कविता रूपों की तुलना में उसकी रचना-प्रक्रिया में निश्चित रूप से भिन्नता रही। डा० बलदेव वंशी, आप रचना-प्रक्रिया में आने वाले इस बदलाव को चिन्हित करना चाहेंगे? साथ ही मैं चाहूंगा कि आप रचना-प्रक्रिया के उस अन्तर को भी स्पष्ट करें जो 'विचार कविता' को शेष कविता से स्पष्ट रूप से अलगाता है।

बलदेव वंशी : इस सम्बन्ध में मेरा मत है कि नई कविता का रूप ही भावनावादिता पर आधारित था और आज के युवा की मांग और अपेक्षाएं यह हैं कि हम स्थितियों के पीछे की स्थितियों को देखें। ऊपरी यथार्थ को देख कर उसके उल्लेख तक हम अपने आपको सीमित न करें। इस कारण आज की कविता **नई कविता** से पृथक हो गई। विचार आग्रह बढ़े देश में, परिवेश में—राजनीतिक विचार और पक्ष...तभी आज की कविता ने इस प्रकार का मोड़ लिया है। इसकी सम्भावनाएं आगे बहुत हैं। दूसरी प्रकार की कविता, जिसे **अकविता** कह कर पुकारा गया और जिसका थोड़ी देर के लिए उदय हुआ था, उसे मैं अविचार की कविता मानता हूँ क्योंकि उसका पूरा चरित्र...उस समय की मुख्य बात तो उस समय का अराजक वातावरण ही था...क्योंकि उसको कोई दिशा नहीं मिल रही थी। उस समय के समाज में, समाजगत स्थितियों में हम देखते हैं...अमानवीयता की भावना, सब चीज़ों को उड़ा देने की बात—देश संस्कृति, विचार, किसी प्रकार की कोई दिशा शेष नहीं रही थी। किन्तु आज की कविना के पास एक निश्चित दिशा है। तीसरी प्रकार की

कविता, जिसे अभी डा० नरेन्द्र मोहन ने मतवादी कविता की संज्ञा दी है, के पास भी विचार थे किन्तु ये विचार आरोपित विचार थे, बने बनाए किन्हीं मतवादी विचारों को कविता पर आरोपित करना था।

रमेश मेहता : विचार तो रचना के बीच में इस प्रकार अंतर्गुम्फित होना चाहिए कि उन्हें अलगाया न जा सके।

बलदेव वंशी : जी हां! विचार कविता, जो अपने आस-पास के अनुभवों से जो विचार उत्पन्न होते हैं, निःसृत होते हैं—उन विचारों को लेकर चलती है। इस प्रकार विचार कविता समाज के साथ पूर्णतः सम्बद्ध है, जुड़ी हुई है।

रमेश मेहता : अभी आपने कहा कि वातावरण में अराजकता और उग्रता थी या कि परिवेश कुछ अलग तरह का था, तो मैं जानना चाहूंगा कि···इस परिवेश ने विचार-कविता की भूमिका तय करने में भी तो विशेष भूमिका निभायी होगी?

बलदेव वंशी : इस संदर्भ में मैं कहना चाहता हूं कि अभी आपने संरचना की बात उठायी है तो विचार केवल भीतरी तत्व को ही नहीं—सम्पूर्ण ढांचे को ही निर्धारित कर रहा है। इस आधार पर उस की आज तक की काव्य-धाराओं से अलग पहचान बनी है।

नरेन्द्र मोहन : इसी बात को अगर हम दूसरी तरह से कहें—पहले की कविता की प्रवृत्ति, अधिकतर, भावाकुल होकर, परिस्थिति के प्रति कोई वक्तव्य देने या बयानबाज़ी करने की थी। वह यह भी मानता था कि कविता एक ऐसी चीज़ है जो ऊपर से उतरती है। मैं समझता हूं कि कविता के बारे में यह एक रूमानी धारणा थी। इसे इधर की परिस्थितियों ने तो खंडित किया ही, कविता ने भी खंडित किया कि कविता में कवि कोई ऐसी बात नहीं कहता जिसकी वह व्याख्या न कर सके या जिसके लिए रूमानी धारणा का प्रश्रय लेना पड़े। आज की कविता में विचार सहज-स्वाभाविक रूप से निःसृत हो रहे हैं। बल्कि विचार उस कविता का एक बुनियादी ढांचा बना है। पहले यह था कि हम अनुभव को अन्तिम इकाई मान लेते थे जिससे अनुभववाद ने जन्म लिया। इसी तरह कला के नाम पर कलावाद ने जन्म लिया। इसी तरह से एक खतरे की ओर मैं विशेष रूप से संकेत करना चाहता हूँ कि विचार कविता के नाम पर ऐसा न हो कि एक दिन विचारवाद हमारे सामने आ जाए।

रमेश मेहता : इस खतरे से तो हमें निश्चित रूप से सजग रह कर बचना होगा।

नरेन्द्र मोहन : इसी दृष्टिकोण के कारण हम विचार की सक्रिय अवधारणा को अपने सामने

रखना चाहते हैं। हम विचारधारा को भी इसी रूप में सार्थक एवं मूल्यवान पाते हैं जिस रूप में वह हमारी सामाजिक स्थितियों की समझ को धुंधलाने न दे।

रमेश मेहता : आपने अभी खतरे की बात की तो मैं कहना चाहूँगा कि खतरा एक और दिशा से भी हम पर हावी हो सकता है। मसलन शिल्प के धरातल पर 'विचार कविता' की 'नई कविता' और 'अकविता' से अलग पहचान क्या है? साधारण पाठक के लिए रचना के बाहरी कलेवर को देखकर इन तीनों में भेद करना कठिन होता है। तो यह जो दायित्व हम पर आता है कि हम उसे सचेत करें कि कौन सी कविता विचार कविता है और कि कौन सी पुरानी पद्धतियों का पिष्टपेषण भर कर रही है—इसके सम्बन्ध में आप कोई सुझाव देना चाहेंगे।

बलदेव वंशी : सुझाव तो पाठक के पास ही है, पारखी के पास है कि उसकी कलात्मक सीमाओं में रहते हुए, कला के निकष पर एक सही कविता होते हुए, पहले उसका कविता होना बड़ा अनिवार्य है, वह उसकी भावना को उत्तेजित करके कहीं भटकाती तो नहीं है? स्थितियों का सही स्पष्ट ज्ञान तो उसे है? तो विचार कविता तो विवेक–सम्पन्नता की कविता है, उसमें ऐतिहासिक, सामाजिक आदि सभी परिप्रेक्ष्य खुले हुए हैं, यह सब होना बड़ा अनिवार्य है।

रमेश मेहता : यहां मैं एक बात जानना चाहूँगा कि वे कौन से कवि हैं जिन्होंने 'विचार कविता' को उसका वर्तमान रूपाकार प्रदान करने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई है।

नरेन्द्र मोहन : मेरा विचार है कि कविता से जुड़े हुए वे महत्वपूर्ण कवि जो पिछले आठ-दस वर्षों से लिखते रहे हैं उनमें से प्रमुख कवियों का चयन अपने आप में बड़ा कठिन है। फिर भी इस संदर्भ म सर्वश्री कुमारेन्द्र पारसनाथ सिंह, चन्द्रकांत देवताले, लीलाधर जगूड़ी, बलदेव वंशी, ज्ञानेन्द्रपति के नाम गिनाए जा सकते हैं। और भी बहुत से ऐसे कवि हैं जो अपनी स्थितियों के साथ जूझते हुए—विचार को अपने सृजन का अंग बनाकर—आगे बढ़ रहे हैं और ऐसी समझ को विकसित कर रहे हैं जिसके द्वारा आज की स्थितियों में हम कविता को सृजनधर्मी बनाते हुए भी उसके संघर्ष तत्व को बरकरार रखें।

रमेश मेहता : यह तो स्वयंसिद्ध ही है कि विचार कविता भाषा के स्तर पर दोहरे जोखिम को झेलती हुई चलती है। एक तो उसने विचार को प्रकट करना है और दूसरे सपाटबयानी से बचाव करना है। मैं समझता हूँ कि विचार कविता की यह एक बहुत बड़ी उपलब्धि है कि वह अपनी बात को बड़े कलात्मक ढंग से प्रस्तुत कर रही है।

बलदेव बंशी : वस्तुतः आज कविता के मूल्यांकन का और संरचना का आधार 'विचार' ही बन गया है। और 'विचार' कविता की क्षमताओं को खोलता है। आज विचार और अनुभूति का एक नया समीकरण उत्पन्न हुआ है जो भाव और कल्पना की अपेक्षा ज्यादा महत्वपूर्ण और बुनियादी है।

नरेन्द्र मोहन : यदि हम समकालीन कविता की भावी दिशाओं की बात करें तो मैं कहना चाहूंगा कि विचार को ही हमें केन्द्र में रखकर आगे चलना होगा। आगे आने वाली पीढ़ी के लिए भी यह एक रचनात्मक मूल्य, एक प्रतिमान बन सकेगा।

रमेश मेहता : वस्तुतः विचार कविता एक ऐसे मार्ग पर अग्रसर है जो सहज है अतः कविता का इसी पर आगे बढ़ना एक अनिवार्यता बन गया है।

('आकाशवाणी' जम्मू से साभार)

शीराज़ा हिन्दी

का

कविता विशेषांक

दिसम्बर १९७९ में प्रकाश्य।

अपनी प्रति अभी से सुरक्षित करवा लें।

ज़मीन की तलाश

—अजय नाक़िब

तब,
अजब उत्साह था !
संस्कृति की जमीन थी,
राष्ट्रीय—सामाजिक दोषों की खाईयां ।

बहुत अच्छा लगता था,
लगभग आसमान से चिल्लाना,
"सवाल का जवाब मालूम है" ।

अब
ग़जब थकान है ।

जहां सरकारी ईमानदारी की बात उठती है
तो,
मुट्ठियां अब भी कस जाती हैं ;
नसें अब भी तन जाती हैं ;
बांह अब भी फड़कती है ।
पर अन्तर जानता है,
सब आदतन होता है ।
रोबॅट से ज्यादा, अपना-आप,
अब कुछ नहीं नजर आता !

मैं विश्वास से कहता हूं,
समूचा हिन्दुस्तान,
एक प्रश्नवाचक चिन्ह की गिरफ्त में है ।

सच है !
जमीन बहुत जरूरी है ।
सिवाय थकान के कुछ नहीं देता,
हवा में ही भटकते जाना !

लद्दाखी भाषा व साहित्य का परिचय

—ङवांग छेरिंग

लद्दाखी भाषा व साहित्य का इतिहास सातवीं शताब्दी से चला आ रहा है। इस भाषा का आविष्कार उसी शती के तिब्बत के धर्मराज सोङ-चेन गम्-पो के शासन काल में उनके धर्म मन्त्री थोन्मि सम्भोट द्वारा हुआ। यह कहा गया है कि उन्होंने इस भाषा का निर्माण कश्मीर व नालन्दा जाकर संस्कृत भाषा तथा साहित्य का पूर्ण ज्ञान प्राप्त करने के उपरान्त देवनागरी लिपि को आधार मान कर किया। थोन्मि ने संस्कृत के आधार पर ही इसकी वर्णमाला भी तैयार की। इस लिपि में केवल चार स्वर व तीस व्यंजन होते हैं तथा यह आधुनिक हिन्दी की वर्णमाला से काफी मिलती जुलती है।

इतिहासकारों के अनुसार थोन्मि सम्भोट ने इस भाषा की लिपि तैयार करने के बाद इसका व्याकरण भी तैयार किया एवं इससे सम्बन्धित आठ पुस्तकें भी लिखी थीं, लेकिन समय के घटना चक्र में इनमें से छह पुस्तकों को लुप्त होने से न बचाया जा सका। इस प्रकार आज की दुनिया में केवल दो पुस्तकें सुम्-चुया (त्रिशत) और तार्ग-जुग् (लिङ्गावतर) ही उपलब्ध हैं। जो कि इस भाषा के व्याकरण की मूल पुस्तकों के रूप में प्रसिद्ध हैं। इस प्रकार आगे चल कर जिन विद्वानों ने बहुत सी टीकाएं लिखीं, इसमें से विख्यात टीकाकार सितु पन्छेन हुए, जिन्होंने सितु महाटीका ग्रन्थ की रचना की।

इतना कुछ पढ़ने के बाद आलोचक यह कहने से नहीं चूकेंगे कि यह तो तिब्बत की भाषा व साहित्य का इतिहास है।

हां, यह तो सच है, लेकिन भाषा व साहित्य की दृष्टि से लद्दाखी व तिब्बती दो अलग-अलग साहित्य भी तो कभी नहीं रहे हैं। साथ ही साथ प्राचीन काल से आज तक लद्दाखियों ने आध्यात्मिक दृष्टि से तिब्बत को अलग भी तो कभी नहीं समझा है। वास्तव में लद्दाखी साहित्य मूल रूप में तिब्बती है। यदि कुछ मतभेद है तो वह केवल बोलचाल में जो कि

सर्वत्र पाया जाता है, उदाहरण के तौर पर हिन्दी तथा भोजपुरी में, या अपने लद्दाख में लेह व शम्माओं की बोली में।

लद्दाखी भाषा, जिसे भोट भाषा भी कहा जाता है, अपने गम्भीर दर्शन एवं साहित्य का विशाल भण्डार होने के कारण केवल लद्दाख तक ही सीमित नहीं रही, अपितु यह तिब्बत, नेपाल, भूटान, सिक्किम, पाकिस्तान, चीन, मंगोलिया एवं हिमाचल प्रदेश के काफी बड़े भू-भागों की जनता की भाषा है। इसके अलावा भी कश्मीर से असम तक के अधिकांश हिमालय पर्वतीय निवासियों की भी अपनी बोलचाल की भाषा है।

लद्दाखी साहित्य बड़ा सम्पन्न है। इसमें बहुत से ग्रन्थ लिखे गए हैं। जिनमें से दो विराट ग्रन्थ का-जुर् व तेन्-जुर् हैं। जो कि मूल संस्कृत में ही थे। उन्हें बौद्ध धर्म के हीनयान सम्प्रदाय के लोग त्रिपिटक के नाम से पुकारते हैं। का-जुर् में कुल १०८ ग्रन्थ हैं, जो कि भगवान बुद्ध के वचनों का संग्रह है। तेन-जुर् जो कि दो सौ से अधिक ग्रन्थों में फैली हुई है, महात्मा बुद्ध के महापरिनिर्वाण के बाद उनके कतिपय प्रधान शिष्यों द्वारा धर्म, दर्शन, व्याकरण एवं इतिहास आदि विषयों पर लिखित ग्रन्थों का संग्रह व का-जुर् पर लिखी गयी टीकाओं का संग्रह है। इस सन्दर्भ में यह कहना आवश्यक होगा कि का-जुर् व तेन-जुर् की अनेक प्रतियां भारत सहित कई देशों के बड़े पुस्तकालयों में आज भी सुरक्षित हैं। संक्षेप में इस भाषा के साहित्य में निम्नलिखित पांच महाविद्याओं पर अपार ज्ञान के भण्डार भरे पड़े हैं। ये विद्यायें हैं : (१) शब्द विद्या, (२) प्रमाण विद्या, (३) चिकित्सा विद्या, (४) शिल्प विद्या, (५) आध्यात्मिक विद्या। इसके अलावा भी इसी साहित्य में पुराण, धर्म, इतिहास, नाटक, काव्य, महाकाव्य, व्याकरण, आयुर्वेद, ज्योतिष-विद्या एवं तर्क-विद्या आदि पर बहुत से ग्रन्थ हैं। इसके अलावा तिब्बती विद्वानों के प्रवचनों पर आधारित ग्रन्थों को 'रिन्छेन तरेज़ोत' (रत्ननिधि) के नाम से जाना जाता है। यह कुल ६५ ग्रन्थों में फैली है। बौद्ध धर्म के महायान व हीनयान सम्बन्धी अपार ज्ञान के कोश भी इसी साहित्य में उपलब्ध हैं। बीती हुई शताब्दियों में इस साहित्य को अधिक सु-सम्पन्न बनाने में लद्दाखी विद्वानों व साहित्यकारों का योगदान भी प्रशंसनीय रहा है। उदाहरण के तौर पर जस्कार लोचवा ङवांग छेरिंग, सुस रिन्योछे छुलटिम छोस्फेल व छुलटिम नीमा आदि। आप लोगों ने जो ग्रंथ लिखे हैं, वे आज भी लद्दाखी साहित्यकारों का मार्ग दर्शन कर रहे हैं।

जैसा कि सर्वविदित है, प्राचीन काल में उत्तर भारत पर विदेशी आक्रमणों के फलस्वरूप नालन्दा, व विक्रमशिला जैसे अधिकतर बड़े-बड़े विद्या मन्दिर जिनमें संस्कृत एवं तिब्बती साहित्य के अमूल्य ग्रन्थ थे, नष्ट भ्रष्ट कर दिए गए अथवा जला दिए गये, लेकिन बड़े ही हर्ष की बात है कि उसी काल में उत्तर भारत से उन ग्रन्थों की बहुत सारी प्रतियां तिब्बत, चीन, जापान, मंगोलिया, भूटान, सिक्किम एवं लद्दाख जैसे देशों में पहुंच चुकी थीं। इस प्रकार अब ऐसा लगता है कि यदि संस्कृत को हमें पुराना गौरवपूर्ण स्थान दिलाना है तो हिन्दी व संस्कृत के साथ तिब्बती भाषा और साहित्य को भी महत्त्व देना होगा।

इस सन्दर्भ में मैं महापण्डित राहुल संकृत्यान का नाम अवश्य ही लेना चाहूँगा, क्योंकि आपका इस भाषा से बड़ा ही लगाव रहा है। इसी लिए तो राहुल जी ने अपने कर्म क्षेत्र एवं ज्ञान को केवल हिन्दी व संस्कृत साहित्य तक ही सीमित न रख कर तिव्वती भाषा व साहित्य तक बढ़ाया। आपने लद्दाख की यात्रा की एवं लम्बे समय तक यहां रहे। आपकी यह यात्रा अपने में महत्त्व रखती है, क्योंकि इस यात्रा से आपको इस साहित्य के और भी नज़दीक आने का सुअवसर मिला। आपकी इस भाषा में लिखित कृतियों में साहित्य अकादमी द्वारा दो खण्डों में प्रकाशित तिव्वती—हिन्दी शब्दकोश मुख्य है।

अब रही आधुनिक लद्दाख की बात। आधुनिक लद्दाख भी इस क्षेत्र में पीछे नहीं है। अब लद्दाख के साहित्यकार एवं शिक्षा संस्थायें भी अपनी भाषा व साहित्य को नया रूप देने के लिए बड़े ही शौक से कार्य कर रही हैं, जिनमें केन्द्रीय सरकार द्वारा स्थापित बौद्ध दर्शन महाविद्यालय, लेह का नाम उल्लेखनीय है। इस महाविद्यालय की विशेषता यही है कि इसमें मुख्य रूप से केवल तिब्वती भाषा, संस्कृत एवं बौद्ध दर्शन आदि ही पढ़ाये जाते हैं। इस प्रकार यह महाविद्यालय न केवल लद्दाखी भाषा तथा साहित्य के उत्थान में सहायक प्रमाणित हो रहा है अपितु लद्दाख में हिन्दी तथा संस्कृत के प्रचार में भी सहायक सिद्ध हुआ है।

सम्पूर्ण लद्दाख के स्कूलों में लद्दाखी भी उर्दू, हिन्दी की ही भांति दसवीं कक्षा तक पढ़ायी जाती है, जिसके लिए इस भाषा के अध्यापक जगह-जगह पर नियुक्त हैं। इसके फलस्वरूप लद्दाखी भाषा का प्रसार हुआ है। गत कई वर्षों से लेह में आकाशवाणी का केन्द्र कार्यरत है जहां से कि मुख्य रूप से लद्दाखी में ही कार्यक्रम प्रसारित होते हैं। इस केन्द्र के खुलने से अब लद्दाख के साहित्यकार एवं गीतकार अपने लेख एवं कवितायें रेडियो के माध्यम से आम जनता तक पहुंचा रहे हैं। अब तो इस भाषा के टाइप-राइटर भारत के ही रेमिङ्गटन रेन्ड आफ इंडिया लि० द्वारा निर्मित किए गए हैं और बाजारों में अन्य भाषाओं के टाइप-राइटरों की तरह मिलने लगे हैं, जो कि सम्पूर्ण देश में इस भाषा के विकास का प्रतिनिधित्व करता है। इसी प्रकार राज्य के सूचना विभाग ने भी इसी भाषा में मासिक फोना के प्रकाशन का शुभारम्भ किया है। इन सारे कार्यों के फलस्वरूप भाषा का प्रसार बढ़ा है।

लद्दाखी भाषा व साहित्य के प्रचार व प्रगति के लिए जे० एण्ड के० अकादमी आफ आर्ट, कल्चर एण्ड लैंग्वेजिज़ की एक शाखा लेह में गत दस वर्षों से कार्य कर रही है। यह अकादमी लद्दाखी भाषा में नयी-नयी पुस्तकों का प्रकाशन करने के अतिरिक्त लोक गीतों को लुप्त होने से बचाने का कार्य भी कर रही है। इसके अलावा यह अकादमी लद्दाखी लेखकों के सम्मेलन भी आयोजित करती है ताकि साहित्यकार जो पुराने विचारों में खोये हैं, नयी दिशाओं से परिचित हो सकें। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आज से कुछ वर्ष पहले तक लद्दाखी लोग अपनी भाषा में पुस्तकें एवं लेख बहुत कम लिखते थे। यदि लिखते भी थे तो छापते न थे। इसके तीन मुख्य कारण थे—प्रोत्साहित करने वालों का अभाव, धन की कमी

और मुद्रणालय का अभाव। लेकिन अब तो ये सारी बातें पुरानी हो चुकी हैं। राज्य के अन्य साहित्यकारों की तरह लद्दाख के साहित्यकार भी पीछे नहीं हैं। गत दो वर्षों से लद्दाख के साहित्यकार भी राज्य की अकादमी द्वारा आयोजित किए जा रहे वर्ष की सर्वश्रेष्ठ पुस्तक की प्रतियोगिता एवं वर्ष के सर्वश्रेष्ठ नाटक प्रतियोगिता आदि में भाग लेने लगे हैं। इस तरह दो वर्षों के अन्दर तीन लद्दाखी लेखक सर्वश्री गेलोंग जमयंग ग्यालछन, श्री एस० एस० गेरगन एवं गेलोंग थुपस्तान पलदन अपनी-अपनी पुस्तकों को अकादमी के पास वर्ष की सर्वश्रेष्ठ पुस्तकों की प्रतियोगिताओं में भेजकर दो-दो हज़ार रुपये के पुरस्कार ले चुके हैं। उसी तरह गेलोन जमयंग ग्यालछन अपनी नाटक की पांडुलिपि को अकादमी के वर्ष के सर्वश्रेष्ठ नाटक प्रतियोगिता में भेजकर ७०० रुपये का प्रथम पुरस्कार प्राप्त कर चुके हैं। इसी तरह राज्य की अकादमी ने दो लद्दाखी साहित्यकारों सर्वश्री खम्पो काछेन इशे तोन्डुप व टाशी खग्यास को उनके द्वारा लद्दाखी साहित्य के विकास के लिए किए गए शानदार कार्यों के लिए रोबस्-आफ-ऑनर प्रदान कर सन्मानित किया है। राज्य की अकादमी ने लद्दाखी में भी "वार्षिक पत्रिका" का प्रकाशन शुरू किया है। इसके अलावा अकादमी ने दो पुस्तकें लद्दाखी लोकगीतों की भी प्रकाशित की हैं। इस तरह अकादमी का योगदान भी इस भाषा के प्रचार व प्रगति में प्रशंसनीय एवं महत्त्वपूर्ण रहा है।

इतना कुछ होते हुए भी, अभी भी, इस भाषा व साहित्य को अपना प्रतिष्ठित पद दिलाने के लिए बहुत कुछ करना शेष है। इनमें से दो बातों पर कार्य जोरों से चल रहा है। प्रथम—साहित्य अकादमी से राज्य की अन्य दो भाषाओं डोगरी व कश्मीरी की तरह लद्दाखी को भी मान्यता दिलवाना, दूसरी राज्य के विश्वविद्यालयों में इस भाषा में उच्च शिक्षा प्राप्त करने की समुचित व्यवस्था करना। इस प्रकार अब वह दिन भी दूर नहीं जब हम लद्दाखी भाषा को अपने गौरवपूर्ण पद पर सुशोभित हुआ देखेंगे।

अर्थ—खोजी प्राण से उद्दाम हैं
अर्थ क्या? यह प्रश्न जीवन का अमर।
क्या तृषा मेरी बुझेगी इस तरह
अर्थ क्या? ललकार मेरी है प्रखर।

—मुक्तिबोध

डोगरी बाल लोकगीत—एक अध्ययन

—डॉ० चम्पा शर्मा

डोगरी लोकगीतों में बाल-गीतों का विशेष स्थान है। बाल-गीतों के दो रूप मिलते हैं—एक तो वे गीत हैं जिन्हें बालक-बालिकायें स्वयं तो नहीं गाते पर उनका सम्बन्ध बालक-बालिकाओं से है। इन्हें डोगरी भाषा में **लोरियां** कहा जाता है, दूसरे प्रकार के गीतों के रचयिता और गायक बालक-बालिकायें स्वयं हुआ करते हैं। इन्हें 'क्रीड़ा-गीत' कहा जा सकता है। बच्चों का स्वभाव है कि वे खेल करते हुए कुछ सार्थक-निरर्थक ध्वनियां करते रहते हैं, उनकी यही जाने-अनजाने में उच्चरित ध्वनियां 'खेल-गीत' बन जाती हैं। बस इसी प्रकार अपने ही रचे हुये गीतों को गाते हुये डुग्गर प्रदेश के कई बच्चे लोक-कवियों की श्रेणी में मिल बैठे हैं। इन गीतों द्वारा बच्चों ने अपने बाल-मन की नन्हीं उलझनों को उधेड़ा है, मन के भावों को प्रकट किया है। इन्हीं गीतों का संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत है :—

लोरियां—सोने के लिये खीझते हुये नन्हें शिशु को सुलाती हुई अथवा किसी कारणवश रूठे हुए मुन्ने को पुचकारती हुई, मनाती हुईं बच्चों की दादियां, नानियां, मातायें, बहनें या आया लोग जो खुशामद भरे गीत गाती हैं उन्हें 'लोरियां' कहा जाता है। बच्चे को गोदी में लेकर हिलाते हुए, पालने में लिटा कर झुलाते हुए अथवा बच्चे की छोटी चारपाई पर सुलाकर थपथपाते हुए गाया जाता है :—

आई गई उंघ उंघोली
डाएओ खट्ट—बछायो झोली।
ए—ग्रां —ऊ ऊ ग्रां

नन्हे-मुन्ने स्वर-लय एवं बाल-प्रधान गीत सुनना पसन्द करते हैं। इसीलिये 'लोरियों' में 'लय' की प्रधानता रहती है। बच्चे एक ही बात को बार-बार सुनना चाहते हैं। अतः 'लोरियों' में भी कुछ पंक्तियां कई बार दुहराई जाती हैं :—

चिड़िये चोगां चुगदिये।

कुतै बच्चू नईं ना लब्बा ?

लब्बा लब्बा लब्बा, हत्थ फड़े दा बस्ता,

स्कूल जन्दा लब्बा। ए ग्रां—ऊ ऊ ऊ

चिड़िये चोगां चुगदिये—मेरा बच्चू नईं ना लब्बा ?

डोगरी बाल-गीतों में श्रीकृष्ण की बाल-लीलाओं का भी वर्णन उपलब्ध होता है :—

सेई जायां नन्द लालेग्रा,

बांह् सरैह्ना दिन्नी ग्रां।

सेई जायां गरपालु ग्रा,

बांह् सरैह्ना दिन्नो ग्रां।

इन बाल-लोकगीतों द्वारा प्राचीन डुग्गर के सामाजिक, पारिवारिक एवं आर्थिक जीवन का स्वच्छ रूप झलकता है। बालकों एवं बालिकाओं को सुनाई जाने वाली 'लोरियों' में अन्तर रहता था। परिवार में लड़कियों को वह स्थान प्राप्त नहीं जो बालकों को मिला हुआ था—इस कथन की पुष्टि इन बोलों से होती है :—

(बालक के लिए) : भला होऐ परमेसर दा
जिन्न बूटा लाया केसर दा।

(बालिका के लिए) : कुड़ी कुड़ी परतख्ख कुड़ी,
पैह्ले खादी सस्स कुड़ी।
सौह्रा-मौह्रा खाई मोग्रा,
जेठ कटारा खाई मोग्रा।

(ख) सौ कुड़िये रानिये
दुद्द भत्त खानिये
तू नईं जायां पानिये।

दूध और चावल डुग्गर के बच्चों का मनभाता भोजन रहा है, इसकी पुष्टि पालना भुलाते हुए गाये जाने वाली लोरी के बोलों से होती है :—

भूटे माइयां

दुद्द भत्त खाइयां

नन्हें शिशु के कोमल-कोमल नन्हें नर्म हाथ-पांवों को देखते-देखते उनकी नानी, दादी, मातायें थकती नहीं और अपने दन्त-हीन मुखों से बालक के अपने पांवों से चलकर शहर आने की कल्पना करती हुई गाती हैं :—

निक्के निक्के हत्थ,

ते बच्चू कियां खाग भत्त ?

निक्के निक्के पैर,

मेरा बच्चू टुरियै ग्राया शैह्र—
ए ग्रां, ऊ ऊ ऊ।

कृषि प्रधान डुग्गर के बच्चों की थकावट रोटी का टुकड़ा, मट्ठे का कटोरा एवं गुड़ मिलते ही नौ दो ग्यारह हो जाती थी :—

मेरा गिल्लू ग्राया मैंही कन्ने,
ते टुक्कर देग्रो देहीं कन्ने।
मेरा बच्चू ग्राया चट्ठे दा,
देग्रो कटोरा मट्ठे दा।
मेरा सोह्ना ग्राया टांडेया,
गुड़ कढनियां कोरेया भांडेया ए ग्रां ऊ ऊ

प्राचीन डुग्गर के गरीब लोक कवियों ने अपने बच्चों के मन बहलाने के लिये भी बरफी, लड्डू, गुलाब जामुन आदि की कल्पना नहीं की। कितना सरल एवं सादा जीवन था उनका। मनुष्य किसी वस्तु को प्राप्त भले ही न कर सके, पर कल्पना करने में तो कोई दाम नहीं लगते। डुग्गर के लोक-साहित्यकार ख्याली पुलाव पकाने की तुक नहीं करते थे। किसी विशेष अवसर पर सादा भोजन नहीं बनता तो विशेष पकवान (बबरू) बनाए जाते :—

चिड़िये चोगां चुगदिये।
तूं ग्राटा पीह् करूरा,
मेरे गिल्लू जोगियां बब्बरियां।
ते लोकें जोड़ा बूरा,
ए ग्रां ऊ ऊ ऊ।

इन बालगीतों द्वारा प्राचीन डुग्गर में प्रचलित अनेक प्रथाओं का भी ज्ञान होता है। बड़े घरानों की स्त्रियां अधिक कपड़े का बना हुआ खुले घेरे वाला लहंगा पहन कर घर से बाहर निकलती थीं। कम घेरे के घग्घरे केवल निम्न स्तर की स्त्रियां लगातीं जो हास्य की पात्र मानी जाती थीं। स्त्री का ऊंट पर चढ़ना लज्जास्पद एवं निन्दनीय माना जाता था :—

भूट मुंडेया भूट,
तेरी दादी चढ़ी गेई ऊंट,
डिड्डी गज्जै दा घग्घरा लान्दी,
दादी बड्डी करदी फूस।

'लोरियां' नाम के ये लोकगीत कई तथ्यों पर प्रकाश डालते हैं। उदाहरण स्वरूप अतिथि के आगमन पर किस प्रकार उसे आसन बिछाकर प्रेमपूर्वक बिठाया जाता था, इस विषय से सम्बद्ध कई 'लोरियां' हैं। शिशु को दोनों भुजाओं से पकड़कर उसे हिलाते हुये दही विडोलने का अभिनय करते हंसाया जाता है और गाया जाता है :—

(ग्र) मेरा मुन्नू ग्राया राहें राहें,
ते पन्द बछायो थाएं-थाएं।

(आ) छाऽ छोल जट्टिये–गड़प्पूं
छाऽ दिन्दी लोकें गी ते मक्खन खन्दी अप्पूं ।

पशु-पक्षियों के मन-घड़न्त सम्बन्धों विषयक भी कुछ बालगीत डोगरी लोक-साहित्य के भंडार में सुरक्षित हैं :—

कोयल कामैं दी लाड़ी
कामैं कुट्टी कुट्टी मारी,
कामा होर लैनी लाड़ी ?

डुग्गर की नारियों को पहिर् से अत्यधिक प्रेम होता है। वह अपने बालक को खिलाती हुई भी अपने भाईयों के लिये शुभकामनायें करती हैं :—

बिल्ले बिल्ले जक्करे मारो छिल्ले बकरे
खलाओ कुड़ियो धामाँ, सद्दो गिल्लू दा मामा
ए माँ ऊ ऊ ऊ ।

खेल-गीत—ये वे बालगीत हैं जिन्हें बालक खेलते हुए स्वयं गाते हैं। बच्चों का खेल खेलना भी लोक-संस्कृति का एक विशेष अंग होता है। क्योंकि इसके द्वारा जन-मानस के स्वभाव, शारीरिक शक्ति एवं संगठित होकर कार्य करने की प्रवृत्ति का पता चलता है। खेल-गीतों की भाषा टूटी-फूटी–सार्थक–निरर्थक शब्दों से युक्त होती है। इनमें वाक्यों की गहनता भी देखने को नहीं मिलती क्योंकि इनके रचयिता अपरिपक्व बुद्धि वाले बालक स्वयं हुआ करते हैं। इन गीतों की कोई एक लड़ी एक बालक ने और दूसरी किसी दूसरे ने रची होती है। इसलिये यह सभी बच्चों की सांझी विरासत होते हैं। कोई बच्चा अलग से दावा नहीं करता कि अमुक गीत केवल उसी का रचा हुआ है।

बच्चे आयु के अनुसार अलग-अलग खेल खेलते हैं। शिशु अवस्था में शिशु अपने ही हाथ-पावों से खेलता रहता है। इससे उसके अंग में मजबूती (सुडौलता) आ जाती है एवं आसपास के वातावरण से उसका परिचय हो जाता है। वड़े होते ही बच्चे सामूहिक खेल खेलने लग जाते हैं। इससे उनमें सामाजिक भावना उत्पन्न हो जाती है। पहले तो बालक अपने से वड़ों का अनुकरण करते हैं तदुपरान्त स्वयं दलों में बंट कर शक्ति प्रदर्शन सम्बन्धी खेल खेलना पसन्द करने लगते हैं। कुछ और वड़े होने पर ऐसी खेलें उनकी प्रिय हो जाती हैं जिनके माध्यम से बच्चों में संगठित होकर काम करने की भावना उत्पन्न होती हो।

'कोकला-शपाकी' एक ऐसा ही सामूहिक खेल है। इसमें वारी (डो० मीटी) देने वाले को 'राजे की बेटी' कहकर पुकारा जाता है। यह खेल अधिकतर लड़कियां ही खेला करती हैं। एक लड़की दूसरी की आंखें बंद करती है। अन्य लड़कियां कहीं छुप जाती हैं। तब बंधी हुई आंखों वाली लड़की उन्हें ढूंढती है। आंखें बांधने वाली भी भागती है और गाती जाती है :—

लुक-छुप जाना मकेई दा दाना,
राजे दी बेटी आई जे ।

अन्य कन्यायें कहती हैं—आ जा। फिर वह कहती है—

कुत्थों आमा ? गली बिच न्हेरा ?
लैम्प लेइयै आ जा।
लैम्प मेरा टुट्टा-भज्जा,
दीये बिच तेल नईं,
शाम दी हट्टिया लेई आ।
शाम दी हट्टी बन्द ऐ—
आई कुड़ी दी जंज ऐ।

'कोकला शपाकी' एक ऐसा खेल है जिसमें सभी खिलाड़ी एक गोल दायरा बनाकर बैठ जाते हैं। तदुपरान्त एक बच्चा दुपट्टे को वेष्टित करके गोल दायरे के गिर्द बोलता हुआ घूमता है। अन्य बच्चे उसके बोलों का उत्तर देते हैं। गीत के बोल इस प्रकार हैं :—

कोकला-शपाकी जम्मे रात आई जे,
जेह्ड़ा अग्गे पिच्छे दिक्खे ओह्दी शामत आई जे।*

ठीकरी-म-ठीकरी खेल भी सामूहिक खेल है। इसमें बहुत से बच्चे दो दलों में बंट कर बैठ जाते हैं—एक दूसरे के सामने कुछ फासले पर। दोनों दलों का एक प्रधान खिलाड़ी होता है। वह टूटे घड़े का टुकड़ा (डो० ठीकरी) अपने किसी साथी की गोदी में छिपा देता है। दूसरे दल के प्रधान खिलाड़ी को बताना होता है कि 'ठीकरी' किसकी गोदी में है। यदि सही बता दे तो ठीकरी छुपाने की बारी उसकी आ जाती है अन्यथा पहले जिस बच्चे की गोदी में 'ठीकरी' छुपी होती है वह विजयी घोषित होता है और उठकर एक छलांग विपक्षी दल की ओर बढ़ जाता है।

थाल-गीत गेन्द खेलती हुई बालिकायें गाती हैं। इस खेल के द्वारा बालिकाओं को हाथ-पांव हिलाने का अवसर प्राप्त होता है। स्वास्थ्य लाभ एवं मनोरंजन दोनों साथ-साथ हो जाते हैं। इन गीतों द्वारा डुग्गर के पारिवारिक जीवन की अनेक झांकियां देखने को मिलती हैं, जैसे भाई-बहिन का स्नेह, ननद-भावज सम्बन्ध, सखी-सहेलियों का सच्चा प्रेम, घर-गृहस्थी में से साधु-फकीरों को भिक्षा देना, चक्की पीसना आदि कार्यों का उल्लेख 'थाल' गीतों में हुआ है—

गुड़ दी रोड़ी सौ रपेइया,
लैने आली भैन सभद्रां।
देने आला वीर घनेइया।
× ×
कोठे उप्पर कां,

* डोगरी लोकगीत भाग II—पृष्ठ ८६.

मर गेइयां स्हेलियाँ ते पिट्टै मेरी मां
सोलां, सतारां, ठारां, उन्नी, बीह् ।

× ×

लै फकीरा खैर, तेरे नीले नीले पैर
सौ सौ सौ,
भना दे वीरा जौ
मैं चब्बनियां तूं सौ ।
मेरी भाबी गई प्यौकें,
परतहीए होए नौ ।

× ×

आओ भैनो गोआ फेरचै,
गोए बिचा पैसा लब्बा ।
पैसे दा मैं मैदा आंदा,
मैदे दे मैं क्यूहर पकाए ।
क्यूहर मैं छिक्के रक्खे,
छिक्के पर मेरी सस्सी नै दिक्खे ।

कीकली खेल केवल बालिकाओं का है इसमें एक समय में केवल दो ही बालिकाएं अपनी भुजाओं को कैंची (कतरनी) का रूप देकर एक-दूसरी के हाथ कस कर थाम लेती हैं और अपने ही स्थान पर द्रुतगति से घूमती हैं। इस खेल गीत द्वारा भी पारिवारिक जीवन पद्धति का परिचय मिलता है। कहीं-कहीं शृङ्गार के साधनों का भी वर्णन हुआ मिलता है :—

(क) मेरा गुत्त परान्दा दे, मेरी कंघी शीशा दे ।

(ख) खूह् बिच तुलसी,
भैनां मेरियां गोरियां,
भ्रा मेरा मुन्शी ।

(ग) कीकली कलीर जी, भाबो मेरे बीर दी ।
जिस गली मैं आमां–जामा उस गली दा चूड़ा ।
सस्स मंगदी बिंदलियां जठानी मंगदी चूड़ा ।
भाई आया, भाई आया, सिर गंदाई लौ ।*

कीकली खेलने का स्थान घर का खुला आंगन अथवा बाहिर कोई भी समतल स्थान हो सकता है। यह खेल तभी समाप्त होता है जब खेलने वाली दोनों बालिकायें खेल-खेल कर थक जाती हैं। खेल का स्थान छोटा हो तो एक समय बालिकाओं का एक ही जोड़ा खेलता

* ख, ग, डो० लोकगीत भाग II, पृष्ठ ८४, ८५.

है, अन्य बालिकायें बारी की प्रतीक्षा में खड़ी देखती रहती हैं। खुला स्थान हो तो एक साथ कई जोड़े कीकली खेल खेल सकते हैं।

डुग्गर प्रदेश में प्रचलित बाल-खेलों में एक अन्य सामूहिक खेल है—पंडा भंडारी—जिसमें बच्चे मिलकर अपने हाथों की मुट्ठी बनाकर एक-दूसरे बच्चे की मुट्ठियों पर रखते जाते हैं और गीत गाते जाते हैं। एक बच्चा प्रश्न करता है—

पंडा भंडारिया किन्ना क भार ?

शेष सभी बच्चे उत्तर देते हैं—

इक मुट्ठ चुक्की लै दूई त्यार।

इस प्रकार बारी-बारी करके बच्चे क्रमानुसार अपनी-अपनी मुट्ठी हटाते जाते हैं।

डुग्गर के गांवों में आज भी विद्यालयों में बच्चे लकड़ी की तख्ती पर लेखन-कार्य करते हैं। तदुपरान्त तख्ती को धोकर उस पर मिट्टी विशेष (डो० गाचनी) पोत दी जाती है। तख्ती (डो० पट्टी) सुखाते समय बच्चे अपना प्रिय गीत गाते हैं—

सुक्क-सुक्क पट्टिये।
काला चोर आया ई,
डण्डा लेइयै आया ई,
डण्डा गेआ त्रुट्टी,
पट्टी गेई सुक्की।

बच्चों को विश्वास है कि उनके इस गीत की शक्ति से एवं काले चोर के डण्डे के भय के कारण सनकी तख्ती शीघ्र सूख जायेगी जिस पर वे पुनः लिखाई कर सकेंगे और अपनी लिखावट सुधार सकेंगे।

डुग्गर प्रदेश में बड़ी अवस्था के बालक 'कौडी-कौडी' (कबड्डी) नाम का एक खेल खेलते हैं। इसमें भी खिलाड़ियों के दो दल होते हैं। एक दल के बालक को कौडी-कौडी अथवा डी-डी-डी या फिर ई-ई-ई-ई-ई करते हुए दूसरे दल के बालक को स्पर्श करने को सीमा रेखा तक एक ही सांस में पहुंचना होता है। यदि वह एक ही सांस में सीमा-रेखा से वापिस अपने स्थान पर लौट आता है तो विजयी (डो० जित्तू) कहलाता है अन्यथा पराजित (डो० फाडी) और यदि दूसरे दल के बालक को छू ले तब वह (छुआ गया बालक) 'फाडी' कहलाता है।

ईडन-मीडन एक अन्य सामूहिक खेल है जिसमें बालिकायें भी बालकों के संग खेलती हैं। सभी बच्चे धरती पर हाथ उल्टे रखते हैं। एक बच्चा उंगली से प्रत्येक उल्टे हाथ को छूते हुए गाता है:—

ईडन-मीडन तली तलीडन,
सैला पीला डक्करा, गुड़ खाँ बेल बधां।

---

* डोगरी लोकगीत, भाग—II, पृष्ठ ८६.

इल्ल बैठी अंगड़ै, पतंग बैठी थल्लै,
लम्बड़ै दी धी ब्याही पैसा ऐंग्नी पल्लै ।*

'खो-खो' खेलने के लिये पहले दल का प्रधान चुनना होता है, अतः 'दल' का राजा चुनते समय भी सुन्दर बालगीत गाये जाते हैं, जैसे :—

डो डो डिक, भाई डो डो डिक
फटो फटिक, भाई फटो फटिक ।
थुहाड़ा नां के ऐ ?
कोई लै सुन्ना, कोई लै चांदी ।

पर्व-सम्बन्धी बालगीत—त्यौहारों से सम्बन्धित डोगरी बालगीतों में नवरात्र से (डो० नराते) सम्बन्धित तथा 'लोहड़ी' से सम्बद्ध बालगीत प्रसिद्ध हैं ।

डुग्गर प्रदेश में आश्विन् एवं चैत्र मासों में दुर्गा-पूजा के निमित्त नव दिन पर्व मनाया जाता है , ब्रत रखे जाते हैं । डुग्गर संस्कृति में देवियों का विशेष स्थान है । साक्षात् भगवान् शंकर भी देवी की आरती उतारते वर्णित किये गये हैं । किसी भी शुभकार्य का आरंभ देवी-पूजा से सम्बन्ध रखने वाले गीतों से किया जाता है ।

बालिकायें 'नवरात्र' के दिनों प्रातः-सायं दोनों समय देवी के प्रति अपनी भक्ति-भावना इन गीतों द्वारा प्रकट करती हैं :—

(क) माता थालो-थालै बिच पत्तरी,
मेरी देवां गी पूजन खत्तरी ।
माता तारनियें, जग तारनियें,
तेरे तारे भगत प्यारे
तेरे तारे सैन्त प्यारे ।
माता थालो–थालै बिच मेवा,
भगत औंदे ते करदे न सेवा ।
सैन्त औन्दे ते करदे न सेवा ।
माता तारनिये............ ।

(ख) इस कांगड़े दी सौ सठ पौड़ी,
चढ़देआं चिर लग्गा
मेरी माता रानी
कांगड़ा शैहर चंगा ।

(ग) रक्ख चर्णां दे कोल मां मिगी रक्ख चर्णां दे कोल,
ए मां मेरा मन आखदा, मैं रौहना तुन्दे कोल,
सदा फल पाना चर्णें कोल ।

पौष मास में 'लोहड़ी' का पर्व मनाया जाता है। गांवों में आजकल भी बालक-बालिकायें घर-घर जाते हैं एवं लकड़ी, दाने, गुड़, पैसे आदि इकट्ठे करते हैं। रात्री पड़ने पर किसी खुले स्थान में एकत्र होकर इकट्ठी की हुई लकड़ियां जलाते हैं। भुने हुए मक्की के दाने गुड़ के साथ खाते हैं और अग्नि का सेवन करते हैं। द्वार-द्वार पर जाकर बालिकायें गाती हैं :—

आं ए आं कुड़े त्रचौलिये।
तां ए तां गीगा मौलिये।
तां ए तां गीगा जम्मेआ।
तां ए तां गुड़ भन्नेआ।
तां ए ताँ गुड़े दियां रयोड़ियां।

इन गीतों में पुनरावृत्ति अधिक रहती है। एक बालक अथवा बालिका एक बोल बोलती जाती है और शेष बोल के टुकड़े को दुहराते जाते हैं, जैसे :—

(क) दाना भाई दाना—दाना।
बाग तमासै जाना—दाना।
इस बेटे दी बेल बधाई
असें डब्बे दे बिच पाई।
साढ़ा डब्बा ते हो गया पीला,
इस बेटे दा नां रक्खो हीरा।

(ख) ... ... दी नार बे, नार बे,
गल फुल्लें दे हार बे, हार बे।
कुट्टो चूरी देओ छुहारा,
सिबिया सलाइयां कुड़ियो,
एतबार — एतबार।

इन बालगीतों द्वारा डुग्गर समाज के कई चित्र उभर कर सामने आते हैं। कहीं भाई के लिए बहन की शुभकामना व्यक्त हुई दृष्टिगोचर होती है तो कहीं बालकों के सरल स्वच्छ स्वभाव की सुन्दर झलक देखने को मिलती है :—

(क) मैं गेई सी गंगा, चढ़ाई आई बंगाँ,
शमानी मेरा घग्गरा,
मैं इस किल्ली टंगां,
मैं उस किल्ली टंगां।

(ख) अट्टी छुट्टी सारी—मियां मक्खी मारी,
उप्परा आई बिल्ली—बिल्ली मारेआ पंजा,
पीने आला भाई गंजा।

डोगरी बालगीतों में प्रश्नोत्तरी शैली अधिक प्रयुक्त हुई है :—

(क) एह् किन्ने न दस्स ?
उप्परा आई बस्स ।
बागा मिगी कौडी लब्बो—दाना ।
कौडी दित्ती घाइयें गी—दाना ।
घाइयें मिगी घा दित्ता—दाना ।

(ख) सुन्दर – मुन्दरिये—हो ।
तेरा कुन बचैरा—हो ।
दुल्ला भट्ठी वाला—हो ।
दुल्ले धी ब्याही—हो ।
सेर शक्कर आई—हो ।
कुड़ी दे खीसे पाई—हो ।

(ग) कंडा नि कुड़ियो कंडा ।
इस कंडे दे नाल कलीरा ।
जुग जीवे नि भैनो साढ़ा वीरा ।
इस बीरै दी बेल बधाई,
घर चूड़े ते बीड़े वाली आई ।
उन्न आंदा ई थाल-कटोरा ।
जुग जीवे नि भैनों साढ़ा वीरा ।

इन बालगीतों में तुकबन्दी एवं निरर्थक शब्दों का प्रायः प्रयोग हुआ करता है। पर इसमें भी कोई सन्देह नहीं कि इनमें स्वर एवं लय की प्रधानता होती है, जैसे :—

एटा निं लकड़िये एटा,
रब्ब देऐ थुआनूं बेटा ।
कन्द टप्पियै गलाबी फुल्ल कुन्नै त्रोड़ेया,
भैने, गालियां नि दे फुल्ल मैं त्रोड़ेया ।

उपलब्ध बालगीतों में संख्याबोधक शब्दों का अधिक प्रयोग हुआ मिलता है। विशेष कर बालिकाओं द्वारा गाये जाने वाले 'थाल' नाम के गीतों में, जैसे :—

अक्कड़-दुक्कड़ पम्बै पौ,
अस्सी, नब्बे पूरा सौ ।
सौ गलोटा तित्तर-मोटा,
चल मदारी पैसा खोटा ।

बच्चों के गीतों में खाने-पीने की वस्तुओं का भी अधिक उल्लेख हुआ करता है। बच्चे जहां प्यार के भूखे होते हैं वहां खाने-पीने के लोलुप भी। डोगरी बाल लोकगीतों में भी सुन्दर

वस्त्रों एवं खाद्यपदार्थों का वर्णन मिलता है। जिस स्थान का बालगीत होता है वहीं के खाद्य-पदार्थों का उल्लेख उस लोकगीत में होता है। जैसे :—

दे माई चौल,
कुड़ियें गी लग्गी, तौल, तौल।
दे माई खंड-खंड।
कुड़ियें गी लग्गी ठंड-ठंड।
दे माई कनियां।
कुड़ियां ठरियां-ठरियां।*

इस प्रकार यह डोगरी के बाल लोकगीत जहां एक ओर डुग्गर के बच्चों के मानसिक विकास का परिचय प्रस्तुत करते हैं वहीं डुग्गर की संस्कृति को भी व्यापक संदर्भों में उजागर करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

———
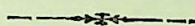
कितने खुशकिस्मत हैं हम
जो एक-दूसरे की आंखों में हैं
अकेले हैं,
और यहां हैं—
इस क्षण में
इस टेबिल पर

—भारत भूषण अग्रवाल

* डोगरी लोकगीत भाग–II, पृष्ठ १९३.

बाहुफोर्ट से तवी[1]

—डॉ० नरेन्द्र मोहन

ऐसे लगा जैसे एक खिड़की खुल गयी हो
नदी में
और मैंने झांक कर देख लिया हो
उसका अन्तरंग
सुन लिया हो संगीत में थिरकता
उसका जिस्म

रस-धार को जज्ब किये हुए
उसके प्यासे रूखे ओंठ
मेरे ओठों के पास खिंच आये हों

एक गंध मेरे शरीर में
समाने लगी थी
एक बिलौरी चंचल पारदर्शी आंख में
नदी थरथराने लगी थी

कुहरिल रंगों की बाढ़
मुझ तक आ गयी थी
और सारे रंग
सुरमई हो गये थे
बाहुफोर्ट की जर्जर दीवार
कहीं नहीं रही थी।

१. जम्मू के बाहु फोर्ट से सट कर बहती हुई तवी नदी

कलकण्ठी बुलबुल—"आज़ाद"[1]

(जन्म सन् १९०३ ई०—निधन सन् १९४८ ई०)

—काशी नाथ धर

उदार प्रकृति ने कश्मीर की रुपहली काया पर, नानारंगी फूलों से महक तथा सरसता, अजस्र गति से प्रवाहमान झरनों से सरगम, और गगन चुम्बी शैल-शिखरों पर से कुंवारी बर्फ की पवित्रता और महानता उधार लेकर, एक अनबूझी कविता गूंथ डाली है। समय-समय पर मानव ने इस कविता में से अर्थ ढूंढने का भगीरथ-संकल्प किया है और इस प्रकार अपनी धड़कनों को इस कविता के शाश्वत संगीत से समस्वर होने के लिये अपने मानसिक उबाल को वाणी प्रदान की है। प्राकृतिक सौन्दर्य के साथ उच्चतम मानवीय आस्थाओं का संगम इसी अनुभूति की भित्ति पर बनता-संवरता गया। सहृदय मानव ने कवि का दायित्व अपने ऊपर लेकर प्रकृति के प्रति अपना ऋण चुकाना आरम्भ किया, मौन-सौन्दर्य बोल उठा, कवि के मन पर से बोझ हल्का हो गया, वह चहकने लगा, उल्लास और आत्मतृप्ति का अमृत-पान करके। ऐसे ही कश्मीरी कवियों में 'आजाद' का नाम बड़े आदर से लिया जाता है। उन की पैनी कल्पना ने प्रकृति और मानव के सुमधुर सम्बन्ध में एक और प्रांजल अध्याय जोड़ दिया। इन का पूरा नाम अब्दुल अहद डार था।[2] रहने वाले एक छोटे से गांव 'रांगर' बडगाम के थे; तेरह रुपये मासिक पर वे एक सरकारी स्कूल में मास्टर बनाये गये; सांसारिक जीवन के प्रवेश-द्वार पर ही उन्हें अभाव तले पिसना पड़ा, संघर्ष इसीलिये उन की शेष आयु का बोध-चिन्ह बन गया। प्रारम्भ में आप 'अहद' के नाम से कविता करते थे, परन्तु बाद में आप 'आज़ाद' उपनाम अपना कर ही अधिक प्रसिद्ध हुये। 'आज़ाद' की प्रारम्भिक शिक्षा घर से ही शुरू हुई। उनके पिता ने इन्हें अरबी और फारसी मन लगाकर पढ़ाई, क्योंकि वे इन्हें एक सूफी बनाना चाहते थे।

१. यह सम्मान 'आजाद' को कश्मीरी के मूर्धन्य कवि 'महजूर' द्वारा दिया गया है।
२. द्रष्टव्य 'कुल्याति (उर्दू) आज़ाद', पृ० ३५, कलचरल अकादमी द्वारा सम्पादित।

परन्तु 'आज़ाद' का निच्छल स्वच्छन्द व्यक्तित्व इस अनुशासन में बन्ध न सका, स्वयं उन के ही शब्दों में—"मगर मैं ऐसा न बन सका, क्योंकि परमात्मा ने पहले से ही मनुष्य का भाग्य नियत कर रखा होता है।" दुर्भाग्य से इस भावप्रवण कवि का स्वास्थ्य कभी भी ठीक न रहा। कोई न कोई रोग उन्हें हर समय कचोटता रहता। चार अप्रेल १९४८ ई० को उदर पीड़ा से यह कलकण्ठी बुलबुल सदा के लिये मूक बन गई।[3]

यद्यपि 'आज़ाद' ने कश्मीर की स्वतन्त्रता का साक्षात्कार नहीं किया क्योंकि वे इस के पूरी तरह फलीभूत होने से पूर्व ही परमात्मा को प्यारे हो गये, परन्तु उन के काव्य में उन सब नवीन मूल्यों को आकार मिल चुका था जिन के परिवेश में नया समाज उभर सकता था। 'प्राचीन' जब अन्तिम सांसें गिन रहा था और 'नवीन' आंखें खोल रहा था, तो इस संक्रान्ति के झुटपुटे में 'आज़ाद' की प्रखर मेधा ने पहले ही वह अवश्यंभावी वातावरण सूंघ लिया था जिस की ज़ोरदार ज़मानत हमें बदलता हुआ समय दे रहा था। इस के साथ ही उसे यह भी विश्वास था कि आज़ादी की यह प्रसव-पीड़ा मानव के सपनों को भारी धक्का देगी। कुछ समय के लिये वह ठिठका-सा, ठगा-सा रह जायेगा, यथार्थ की कटुता सामने आ कर मानव और मानव के बीच दरारों को जन्म देगी; आर्थिक विषमता का बोल बाला रहेगा, शोषण की कुत्सित प्रथा अधिक बल पाने लगेगी, विदेशी के बदले स्वदेशी अब अधिकार पायेगा। यह केवल राजसत्ता की अदला-बदली ही कहलायेगी। स्वतन्त्रता पाने के साथ ही जिस राष्ट्रीय जागरण और नव-चेतना की अपेक्षा रहती है, उस का सर्वथा अभाव रहेगा। ऐसे हाकिम स्वतन्त्रता और स्वेच्छाचारिता में भेद नहीं कर पायेंगे, जनता की उमंगों पर ओस गिरने लगेगी, उन का उत्साह बुझने लगेगा; इसी भावी कठोर सत्य का हृदय-विदारक निरूपण 'आज़ाद' की कविता का प्रधान स्वर है। अत: हम बिना किसी संकोच के कह सकते हैं कि 'आज़ाद' अपने 'आज' की अपेक्षा 'आने वाले कल' का सशक्त उद्घोषक था।

मानव के इस मानसिक दिवालियेपन की बीभत्स तस्वीर खींच कर भी, उसे इस की मूलभूत आस्थाओं पर गर्व है; समझौते के स्थान पर वह इसी कारण इसे विद्रोह की प्रेरणा देता है। इस विद्रोह में खीझ नहीं, उतावलापन नहीं, तलवे झुलसाने की हड़बड़ाहट नहीं। इस में आक्रोश अवश्य है परन्तु शान्त, सौम्य और सहनशील; यही नैतिक महानता घोर निराशा में भी आशा के जुगनू देखने के लिये उसकी पीठ ठोंकती है। उसके कदमों में शिथिलता नाम को भी नहीं आती, बराबर चलते रहना उसके काव्य का मूल-मन्त्र है; इसी कारण उसकी कविता हरैली के गीत नहीं कहलायी जा सकती अपितु मानव की सोई हुई दिव्य भावनाओं को झकझोरने का सबल प्रयास है। मानव को अपना वास्तविक परिचय देना ही उस का ध्येय है।

'आज़ाद' से पहले और कुछ अंशों में उसके बाद भी कश्मीरी काव्य के भाव और कलापक्ष पर फारसी का प्रभाव पूरी तरह छा गया था; कविता-कामिनी के इस विदेशी

३. वही पृ० ४०;

श्रृंगार के-बोझ-तले इस की आत्मा कसमसा रही थी; परन्तु 'आज़ाद' के विद्रोही व्यक्तित्व ने इस बासी मुखौटे को स्वीकारने में असमर्थता प्रकट की; अतः उसने अपनी कल्पना को स्वदेश की धड़कनों से अभिषिक्त किया; फारसी गज़ल का अन्धानुकरण इसीलिये उन से न हो सका। उनकी कविता में कश्मीरी जन-मानस बोल उठा है। कश्मीरी कवियों में इस प्रकार की रूढ़िवादिता से मुक्ति पाने का सर्वप्रथम प्रांजल प्रयास 'आज़ाद' द्वारा ही सम्पन्न हुआ। बनी-बनायी लीक से हट कर अपने लिये नयी डगर खोजना उनके अदम्य नैतिक साहस का ज्वलन्त प्रमाण है। कश्मीरी कविता के चूड़ामणि 'महजूर' भी ऐसी निर्भीकता और तद्नुरूप मौलिकता दिखाने से वंचित रहे ।

'आज़ाद' की कविता में श्रृंगार-प्रतिपादन के साथ उपदेशात्मकता का सबल तत्त्व समोया हुआ है, उसके कथनानुसार यह कोरी भावुकता है, आर्थिक यथार्थता के सामने पलायन है अपने आप को छलावे में रखने का बहाना-मात्र है :—

अश्क छु फरान कमन कमन तप रटशन त आलमन
अशक करान मोलमन पोश बदन कजालिये।
गार गयि च़ खौरदसाली यार बनान हि द्यार वाली
मीर वुछुम बनान फच़ाली दात बनान सवालिये ॥[४]

"यह शारीरिक आकर्षण के प्रति मोह (इश्के मजाज़ी) महान तप वाले ऋषियों और धुरंधर विद्वानों की पूंजी हर लेता है; यह प्रेम सरल-मुग्धा सुन्दरियों के पुष्प-कोमल शरीर पर कालिख पोत देता है; जोबन के उभार से बावली बन कर, ओ मेरी प्रेमिका; तुमने धन-कुबेरों के साथ याराना करने की व्यर्थ तृष्णा की; तुम्हें मालूम होना चाहिये कि बड़े-बड़े धनवान भी मुहताज बन जाते हैं और दानवीर स्वयं दान लेने पर विवश होते हैं"।

इस पद्य में जीवन की वास्तविकता का करुण चित्रण है, आज़ाद' सपनों के संसार से निकलने का सानुक्रोश आग्रह करता है; सौन्दर्य में भी अपनी सीमायें हैं, कुरूपता इस का असली विपर्यय नहीं, सौन्दर्यानुभूति मन की आंखों से सम्भव है भौतिक आंखें केवल बाहरी चकाचौंध से चुन्धिया जाती हैं; 'आज़ाद' की आंखें प्रत्यक्ष को चीर कर इसके अन्तर्तम में डुबकी लगाने की अभ्यस्त बन चुकी हैं। वह इन से परे की भी पहचान सुलभ बनाना चाहता है। अतः मुड़-मुड़ कर पीछे की ओर नहीं देखता। यही कारण है कि वह फारसी ढर्रे की गुलो-बुलबुल वाली गजलगोई से परहेज़ करता है :—

परान 'आज़ाद' छु यिम तरानु
ह्यछिथ तु ज़ानिथ वुछिथ ज़मान।
न गुल न बुलबुल न मय न मुतरिब
यि शायरन निश ति शायरी छा ।।[५]

---

४. वही पृ० ६५-६६,

५. पैयामि-आज़ाद कविता नं० १२६,

"अब आज़ाद इस तरह के गीत रचने लगा है, क्योंकि उसने युगधर्म को देखा है, समझा है और इस से कुछ सीखा भी है। अब उस के विषय न गुल, न बुलबुल, न मदिरा और न इस की अनबुझी प्यास हैं, क्या कवि लोग इसे कविता का नाम देंगे ?"

'आज़ाद' ने जो युगान्तरकारी परिर्वतन कविता के तत्प्रिपाद्य विषयों में लाया, वह परम्परा से विद्रोह ही था, अतः वह उन कवियों पर जो पुरानी लीक पर चलना ही श्रेयस्कर समझते हैं, ऊपर दिये गये पद्य में व्यंग्यात्मक चोट करता है। वह अच्छी तरह समझता है कि नये दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्त्व जो कविता नहीं कर पाती, वह नकली है, अयथार्थ है, बासी है :—

दीनो दुनिया हावसन प्यठ
रावरोवुथ ती पज्या।
मुश्कि रस्त्यन पोशनि पथ
दिल हरोवुथ ती पज्या ॥[६]

"हे मानव तुम ने अपना धर्म और संसार, परलोक और इहलोक दोनों थोथी भावुकता से अभिभूत होकर गंवा दिये। तुम्हारे लिये यह कदापि उचित न था। तुम ने तो सुगन्धहीन फूलों पर दिल लुटा दिया, जो मानव की महानता के अनुकूल नहीं।"

इसी लिये 'आज़ाद' 'नये' का स्वागत इस प्रकार करता है :—

तिम प्रानि दास्तान गव
सीत ह्यथ ज़मान।
नव नव परस तरान
नव नव सौख्न मुबारक ॥[७]

"वे पुरानी दास्तानें ज़माने की करवट ने अतीत की कोख में समो दी हैं, इसीलिये अब मैं 'नये' के स्वागत में गीत रच रहा हूं, इन नवीन बातों को छेड़ना तो बधाई के योग्य है।"

'आज़ाद' के मतानुसार मानव का कुत्सित रूप इस प्रकार का है :—

१. च़ ओसुख गाटजारुक नूर, च़ लोगुथ नार इनसानो।
करिथ इन्सानियत बदनाम, हा बेग्रार इनसानो ॥
२. मुहब्बत वागराबुन क्युत, करयोनक कोदरतन पादा।
प्ये लोगुत दीन-ईमानस, करुन बापार इनसानो ॥
३. थव्योनै कोदरतन पनुन्यन, खज़ानन ठान मुच़राविथ।
प्ये ओसुय वागराविथ ख्योन, बन्योंख शाहमार इनसानो ॥[८]

---

६. वही, कविता नं० १३१ ;
७. बादै-वतन, पृ० १८४ ;
८. पैयामि आज़ाद कविता नं० ६५.

१. हे मानव ! तुम विवेक और बुद्धिमत्ता के प्रकाश-स्तम्भ थे, परन्तु तुम झुलसती आग बन गये ; तुम निर्दयी हो और तुमने तो मानवता को बदनाम ही किया है।

२. तुम्हें परमात्मा ने प्यार बांटने के लिये पैदा किया था, परन्तु तुमने दीन-ईमान का व्यापार करना शुरू किया।

३. प्रकृति ने तुम्हारे लिये अपने खज़ानों का मुंह खोल कर रखा था, तुम्हें इनसे सबके साथ मिलकर लाभ उठाना था, परन्तु तुम फुफकारते विषधर बनकर इन खज़ानों की केवल अपने लिये रखवाली करने में जुट गये।

मानव को सीधे रास्ते पर ले आने के लिये 'आजाद' ने जीवन-भर धर्म-युद्ध किया ; वक्रता के स्थान पर सरलता, कठोरता के बदले सौम्यता, शोषण के स्थान पर पोषण, दुराग्रह के बदले अनुग्रह, घृणा के स्थान पर अनुकम्पा, प्रतिशोध के बदले क्षमापन तथा व्यक्ति के स्थान पर समष्टि के अधिकारों की भरपूर वकालत की। मानव-मन में एक स्वस्थ क्रान्ति लाने के लिये उसने अनथक परिश्रम किया और इस दिशा में गान्धी जी के व्यक्तित्व की स्पष्ट छाप उनके काव्य पर परिलक्षित होती है—

> **जहानस त्रावि नूरान, गछ़न अ्रद हूर देवान।**
> **तिथुय नुन्दबोन आफताबा, रुजिथ यथ ग़ुबारस मंज ॥[९]**

"वह (गांधी जी) समग्र संसार को अपने दिव्य-प्रकाश से भर देगा, अप्सरायें भी इस अलौकिक तेज के सामने बौरा जायेंगी, वही मनभावन सूर्य इस समय झुटपुटे की ओट में खड़ा है।"

'आजाद' को विश्वास था कि जब स्वतन्त्रता के बाद की उथल-पुथल थम जायेगी, जब मानव का दिमाग सन्तुलन पाकर 'क्या खोया' और 'क्या पाया' का लेखा-जोखा तैयार करने बैठेगा, उस समय गांधी जी का सन्देश ही उसका मार्गदर्शन करेगा।

स्वतन्त्रता का आवाहन करने की पूर्वपीठिका स्वदेश प्रेम होता है। अतः 'आज़ाद' ने अपनी मातृभूमि कश्मीर के प्रेम में अनेक कवितायें रच डालीं, जिनमें मिठास के साथ जन-जागरण का स्वर भी मिला हुआ है।

> **छिस बागरान मुहब्बत**
> **कुकलि कुमरि करान गथ।**
> **छिस प्याल ह्यथ अथन क्यथ**
> **पोश चमन मुबारक ॥[१०]**

"बुलबुलें और मैनायें यहां प्यार बांटती हैं, कोयलें इसकी परिक्रमा में मग्न हैं ; मुबारक हो यह मेरा वतन जिसके बाग-बगीचों में फूल हाथों में प्याले उठाकर सबका स्वागत करते हैं।"

कश्मीर के प्राकृतिक सौन्दर्य को वह केवल देश-प्रेम के परिवेश में ही देखता रहता है ; उसकी धड़कनों में जिस सौन्दर्यानुभूति ने प्रवेश किया, वह आत्माप्रसूत है, इन्द्रिय-जनित

---

९. निदायि हातिफी, कविता नं० २४ ;   १०. बादै वतन, कविता नं० ३ ;

कदापि नहीं ; अतः उसके सौन्दर्य-चित्रण में स्थूलता उपेक्षित रही, सूक्ष्मता उजागर हुई। 'नदी' नामक कविता में उसने इन विचारों को व्यक्त किया है :—

अबान त्रेशिहृत्यन आलव करिथ
छुस साल धावान त्रेश ।
फौल्ख्याना दिल जिगर शेहृल्यख
च्यल्ख्यख पकतुक त थकनुक वेश ।।[११]

"मैं (नदी) तृषितों को बुला-बुला कर उन्हें बड़े चाव से पानी पिलाती हूँ ; ताकि उनका दिल खिल उठे, कलेजा ठण्डक पा सके और निरन्तर चलते रहने से उत्पन्न उनकी थकन मिट जाये ।"

यही 'निरन्तर चलते रहना' 'आज़ाद' का जीवन-दर्शन है, रुकना उसके भाव-कोष में नहीं, धूप हो या छाया, सुदिन हो या दुर्दिन, इन सबसे जूझ कर, न कि परास्त होकर मानव को अपने लक्ष्य की ओर सदा पैर बढ़ाते रहना चाहिये। किसी मानसिक दुराव से अभिभूत होकर ठहर जाना, स्तम्भित होना, तलवे सहलाना ही असली मौत है।

यद्यपि वह वर्तमान से विरक्त है, किन्तु भविष्य के प्रति अनुरक्त है ; वह सुकरात की तरह स्वयं विष के घूंट पीकर भी मानव के लिये अमृत-वर्षा करता है, कटुता के निर्मम प्रहारों से बिंध कर भी वह मानव की उस सिन्दूरी ऊषा की प्रतीक्षा में है जब उसे पेट अथवा पीठ पर पत्थर बांध कर नहीं चलना पड़ेगा ; वह उस रंगीन प्रातः को देखने का इच्छुक है जब मानव को कभी धर्म के नाम पर, कभी आर्थिक अभाव के नाम पर और कभी अपनी आत्मा के हनन के नाम पर नीलाम पर चढ़ाया नहीं जायेगा ; जब उसे उधार-मांगे क्षणों से जीवन बुनना नहीं पड़ेगा, जब वह निर्भय होकर अपने वातावरण को मनोनुकूल दिशा देने में समर्थ हो ; वह परिस्थितियों से न दब कर इनसे ऊपर उठने की क्षमता का स्वामी हो ; इस आदर्श को फलीभूत करने के लिये मानव को भारी कीमत देनी होगी। त्याग और बलिदान की संजीवनी का आस्वादन करना होगा।

यि तै दुग्यारुकुय रंगा
त यकसानुक तराने बोज ।
नमुन ह्यौत ब्रह्मणौ कावस
मुसलमान चायि बुतख़ानस ।।[१२]

"यह जो भेद-भाव का चलन तुमने अपनाया है, उसे बरबस विदा कर ! एक हो जाने का मन्त्र मुझसे सुन लो ; यह अभेद तब स्थापित होगा जब ब्राह्मण का'बे का सजदा करेगा और मुसलमान मन्दिर में नतमस्तक होगा।"

आज़ाद इसी को मानव-धर्म समझता है ; वह धर्म के नाम पर मानव को मानव से दूर रखने का विरोधी है क्योंकि वास्तव में धर्म हमेशा जोड़ता है, फोड़ता कभी नहीं।

---

११. मजाज़िरि कुदरत, कविता नं० ९ ;

१२. कुल्याति-आज़ाद, पृ० ७० ;

उसके मानव-प्रेम का उत्कृष्ट नमूना हमें उनके इस पद्य से मिलता है :—

दीनदार प्यै छुय दीन पनुन
छुम स्य पनुन दीन।
ईमानि खोदा चोन त
इनसान मुदा स्योन ॥[13]

"हे दीनदार तुम्हें अपनी धार्मिक आस्थाओं के प्रति लगाव है ; परन्तु मैंने भी अपने लिये एक विशिष्ट धर्म चुना है ; तुम्हें परमात्मा में अगाध विश्वास है, और मुझे मानव से प्रयोजन है।"

कवि मृत्युंजय कहलाता है, देश-काल की सीमायें उसे बान्ध नहीं पातीं, उसकी रचनायें उसे सदाबहार रखती हैं। इसीलिये आज़ाद की करुण-मधुर और साथ ही ओजस्विनी कविता ने स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद भी कश्मीरियों के नैतिक साहस को बुझने से बचाया, उनकी मूलभूत आस्थाओं को ढहने से रोका। इसी सजग प्रेरणा का अमरफल गांधी जी को भी 'घिरते बादलों में से रोशनी की किरण' के रूप में, केवल कश्मीर में ही दृष्टिगोचर हुआ। कश्मीर की उदार-संस्कृति का यह सजग प्रहरी 'आज़ाद', इन्हीं कारणों से आज भी कश्मीरी जनमानस को गंगा की पवित्रता और वितस्ता की धीर-गम्भीरता से बराबर सींचता आ रहा है।

कश्मीरी कविता-कामिनी के चूड़ामणि 'महजूर' ने शायद उसकी इसी अप्रतिम देन से प्रभावित होकर आज़ाद' के निधन पर यह भाव-भीनी श्रद्धांजलि* अर्पित की :—

आह आज़ाद अज़ जहां रोपोश शुद
या कि अज़ जामे बक़ा मदहोश शुद।
बहरहाल रहलतश 'महजूर' गुप्त
बुलबुले शीरीं बयान खामोश शुद ॥[14]

"बहुत ही दुःख अनुभव हो रहा है कि 'आज़ाद' इस संसार से विदा लेकर कहीं छिप गया ; अथवा जीवन की मद-भरी प्याली पीकर अपने होश खो बैठा ; जो भी हो, उसने यहां से वैसे ही प्रयाण किया जैसे कोई कलकण्ठी बुलबुल अचानक मौन हो जाये।"

---

१३. पैयामि आज़ाद, कविता नं० ८७ ;

* फारसी भाषा में ;

१४. कुल्याति आज़ाद, पृ० ४० ;

आदिपुरुष का दोष

—सुभाष भारद्वाज

जब से पैदा हुआ हूं
आज तक
मैंने कभी सूरज नहीं देखा
भले ही
रोज की तरह, आज भी
पीले रंग का
एक मोटा सा गुब्बारा
सामने वाली सीढ़ी से
लपका है
लेकिन यह भी निश्चित है
कि यह
मेरे घर के
ऊपर वाले आसमान को
फांदता हुआ
शीघ्र ही किसी दूसरी सीढ़ी से
फिसल जाएगा।

पीले रंग के
इस मोटे गुब्बारे को
सूरज समझ लेना
मेरी एक मजबूरी है
एक पुरानी आदत है

जो मेरे बाप ने मुझे
जनमते ही ओढ़ाई थी ।
नायक है
यह उसी कहानी का
जो कभी उसने
मुझसे
मेरी बालसुलभ
चंचलता छुड़वाने को
मेरे कानों में सुनाई थी ।

लेकिन
इसमें कसूर
न तो मेरा है
न ही मेरे बाप का
मेरे कुल के
किसी भी
बाप या बेटे का नहीं ।
दोष है
तो मेरे वंश के
उस आदिपुरुष का
जिसने
पीले रंग के
इस मोटे से गुब्बारे
को देखकर
एक बहुत बड़ा धोखा
अपनी आंखों में
टांक लिया था ।

गलती से समझ कर
इसको सूरज जिसने
घड़ कर
एक रोमांचक कहानी
अपने कानों मे खोंस ली थी
और
मधुपर्क से

करके इसका सत्कार
श्रद्धा की झोंक में आकर
इसे कह दिया था सूरज ।

लेकिन
इस धरती पर
नये नये आये हुए
भोले-भाले उस
आदिपुरुष को भी
क्या था मालूम
कि उसकी
वह छोटी सी भूल
आने वाली
असंख्य पीढ़ियों से
छीन लेगी
सूरज को ढूंढने की क्षमता···
हमेशा हमेशा के लिये उन्हें
असली सूरज से
वंचित कर जाएगी ।

ये सब बार-बार
उसी एक पहुंचे हुए नतीजे पर पहुंच कर
रह जायेंगे कि झूठ एक कला है, और
हर आदमी कलाकार है जो यथार्थ को नहीं
अपने यथार्थ को
कोई-न-कोई अर्थ देने की कोशिश में पागल है ।

—कुंवर नारायण

सूर पंचशती के अवसर पर

सूर की सौंदर्य सिसृक्षा

—डॉ० हरीसिंह राणा

रूप, गुण एवं स्वभाव के संश्लिष्ट रागात्मक बोध की मिश्रवृत्ति को 'सौंदर्य' माना गया है। इसी से ललित कलाएं कलाकार के सौंदर्य बोध से प्रतिफलित सी होती दीखती हैं। 'सौंदर्य क्या है? इसका स्वरूप कैसा है?' इस विषय पर पाश्चात्य एवं पौर्वात्य सौंदर्य शास्त्रियों ने गहन चिंतन-मनन किया और यह निष्कर्ष निकाला कि सौंदर्य विषय प्रधान है और यह विषयगत एवं विषयीगत होता है। विषयगत सौंदर्य के अनुसार सौंदर्य पदार्थ तथा वस्तु में ही सन्निहित होता है। दूसरे शब्दों में हम इसे यों कह सकते हैं कि कोई वस्तु नयनाभिराम इसलिये लगती है क्योंकि वह सुन्दर है। सुन्दरता का यह बोध ही सौंदर्य-बोध है। विषयीगत इस धारणा के विपरीत होता है। विषयीगत सौंदर्य-बोध में सौंदर्य वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति विशेष में ही होता है अर्थात् कोई वस्तु मनुष्य को इसलिये सुन्दर लगती है कि वह वस्तु के अंदर अपनी सौंदर्य भावना को आरोपित करके देखता है।

कवि के वर्ण्य विषय में विषयगत एवं विषयीगत—दोनों सौंदर्य एक दूसरे के पूरक होकर आते हैं। कवि सहृदय होते हैं। सहृदयता सौंदर्योपासक होती है। सौंदर्य साहित्य का धर्म होता है। सौंदर्य गोचरागोचर है। साहित्य में सौंदर्य भावगत और रूपगत होता है। भाव-प्रधान सौंदर्य चेतना के अन्तर्गत कवि भावों के प्रकाशन और उनकी सुन्दर अभिव्यक्ति पर ही केंद्रित रहता है। इन भावों का आधार रूप होता है। भावगत सौंदर्य चेतना का मूल तत्त्व संवेगात्मक तीव्रता की व्यंजना है जिससे सौंदर्य मनोहारी बन जाता है। सूर साहित्य 'भावगत सौंदर्य' प्रधान है। रूपगत सौंदर्य मात्र सहायक बनकर आया है।

सौंदर्य बोध अनुभूति का विषय है। अतः इसका विश्लेषण जटिल और दुर्बोध ही बना रहता है। शब्द, छंद, भाव प्रभृत्ति विविध उपादानों में लिप्त होते हुए भी सौंदर्य अनिर्वचनीय

है। यह केवल अनुभूति का विषय है, जिसे शब्दों में बांध कर प्रस्तुत कर देना शब्द-शक्ति से परे की बात है, पर सौंदर्योपासक सूर ने बाल सुलभ अभिव्यक्ति में इस जटिल विषय को भी 'गूंगे का गुड़' बताकर सरस बना दिया है। शब्द जगत सूर का अनुयायी रहा है। भाषा उनकी सहचरी रही है और अभिव्यक्ति के उपादान उनके सखा रहे हैं। इन सबके समर्पित भाव ही सूर की सौंदर्य सिसृक्षा को मूर्त्त रूप प्रदान करा सके हैं। सूर की सौंदर्य सिसृक्षा के पथ में पड़ने वाले पड़ाव—श्री कृष्ण के अनेक कार्य-कलाप, व्यापार, भंगिमाएं और अवस्थाएं—उसके सौंदर्य बोध के प्रकाश से आलोकित हो उठे हैं। कृष्ण के यौवन एवं बालरूप—दोनों को ही सूर ने अपनी सौंदर्य सिसृक्षा के सागर में स्नान कराकर सुशोभित रूप में हमारे सम्मुख प्रस्तुत किया है। सूर की यशोदा तो इस बाल रूप राशि पर सर्वस्व न्योछावर कर रही है :—

लाला हौं वारी तेरे मुख पर।
कुटिल अलक, मोहनि मन बिहंसनि, भृकुटी बिकट ललित नैननि पर।
दमकति दूध दंतुलियां बिहंसत, मनु सीपज घर कियौ बारिज पर।
लघु लघु लट सिर घूंघरवारी, लटकन लटकि रह्यौ माथै पर।
यह उपमा कापै कहि आवै, कछुक कहौं सकुचति हौं जिय पर।

अलक-पलक, भृकुटि नयन, दंतुलियां प्रभृत्ति छवि के उपादान सूर के 'बेमोल के चेरे' रहे हैं। इस चित्र को पूर्ण बनाना सूर का लक्ष्य रहा होगा तब ही तो शेष उपादानों का वर्णन करके सूर सौंदर्य-चितेरे बनकर कालजयी हो गये हैं :—

नव-तन-चंद्र-रेख-मधि राजत, सुरगुरू-सुक-उदोत परस पर।
लोचन लोल कपोल ललित अति, नासा कौ मुक्ता रदछद पर।
सूर कहा न्यौछावर करियै अपने लाल ललित लरखर पर।।

इस एक ही पद में सूर ने चित्रात्मक स्थिति, राग-रंग, अलंकार, रस, ध्वनि सारे शोभा विधायक तत्त्व लाकर अपने मंतव्य को जिस प्रकार स्पष्ट किया है वह उनकी सौंदर्य सिसक्षा के बलवती होने का स्पष्ट प्रमाण है। सूर ने अपने वर्णनों के बीहड़ वन को सौंदर्य सिसृक्षा रूपी पयस्विनी से सींचकर अपने मनोरथों को पुष्पैरन्वित कर दिया है। अपने अभीष्ट की प्राप्ति के लिये सूर ने अपनी अद्वितीय प्रतिभा का शब्दों की तीनों शक्तियों में प्रयोग किया है। शब्द शक्तियों—लक्षणा, व्यंजना तथा अभिधा—का संगम उनके सूर सागर में द्दष्टव्य है। इनके प्रयोग से सौंदर्य म लावण्य और कमनीयता आ गई है। लक्षणा के माध्यस से सूर ने मौलिक उद्भावना पूर्ण चित्रों को रंगमय करने में विशेष सफलता पाई है। अलंकारादि अन्य उपादानों के प्रयोग के कारण 'सौंदर्य' सजीव लगता है। सूर की लक्षणा अगोचर को गोचर बनाकर इंद्रियग्राह्य कर देती है। सूरदास के लक्षणा प्रधान पदों में अर्थ गूढ़ता गौण है और भावगत सौंदर्य बिखरा पड़ा है। बालकृष्ण आभूषणों से सुशोभित है। सूर उस छवि को उचित पृष्ठभूमि देने के लिये आंगन को भी मणिमय ही बताते हैं :—

किलकत कान्ह घुटुखनी आवत।

मनिमय कनक नंद के आंगन, बिम्ब पकरिबे धावत ।।

सौंदर्य का वर्णन कहां तक करें ? लक्षणा 'लक्षण' लक्ष्य लिये होती है, जिसका लक्ष्य होता है— व्यंग्य। सूर ने सौंदर्य वर्णन में इस लक्षणा की वक्रोक्ति कितनी सरल भाषा में की है :—

कुब्जा स्याम सुहागिनी कीन्हीं।

और—

आयो घोष बड़ो व्यापारी।

फाटक दै कर हाटक मांगत, भोरी निपट सुधारी ।।

व्यंजना शक्ति की विशेषता होती है—उसकी अर्थगत वक्रता। इस प्रकार की वक्रोक्ति से भी सौंदर्य सृजन होता है। सूर साहित्य में किशोर गोप-गोपियों के समस्त मिलन और पारस्परिक छेड़छाड़ के प्रसंग व्यंजना प्रधान हैं। खंडिता गोपियां कृष्ण के रतिचिन्ह युक्त शरीर को देखकर असाधारणावस्था की अनुभूति करती हैं और मोहक बैनों से मोहन को छेड़ती हैं। कहती हैं—आप हम से दुराव कर रहे हैं पर आपके नैन रतजगा करने का स्पष्ट संकेत दे रहे हैं—

नैन चपलता कहां गंवाई।

मोसों कहा दुरावत नागर, नागरि रैन जगाई।

ताही के रंग अरुन भये हैं, धनि यह सुन्दरताई।

मनौ अरुन अम्बज पर बैठे, मत्त भृंग रस पाई।

उड़ि न सकत ऐसे मतवारे, लागत पलक जम्हाई ।।

रति प्रधान प्रसंगों में सूर ने व्यंजना शक्ति लगाकर सौंदर्य सृजन में अद्भुत कौशल दिखाया है।

अर्थ की व्यंजना उत्पन्न करने के लिये सूर ने 'अभिधा' को इस प्रसंग में गौण ही रखा है। उदाहरण द्रष्टव्य है :—

पिय प्यारी तनु स्त्रमित भए।

सकुचि उठि नागरि पट लीन्हों, स्याम लजाइ गए।

ऐसे गुन किनि तुमहिं सिखाए, तिरनी कटि कस दीनी।

सूर कहति पिय सौं लिय बातैं, आजु तुमहिं मैं चीन्ही ।।

सूर सागर में रमणीयता रसगत है। रति प्रसंग के मादक पक्ष का वर्णन कितना रमणीक बन पड़ा है—

कबहुंक चुम्बन देत उरज धरि, अति सकुचति तनु बाम।

बहुरि काम रस भरे परस्पर, रति बिपरीत बढाई।

सूर स्याम रतिपति विह्वल करि, नारि रही मुरझाई ।।

रति चिन्हों से मुक्त यह पद कवि की असाधारण प्रतिभा का परिचायक है। यही सूर के सौंदर्य की विशेषता है। कथाओं-उपकथाओं में उनका मन नहीं रमता। भाव प्रधान इस पद में उनकी व्यंजना शक्ति क्या किसी से कम है ?—

राधे तू अति रंग भरी।
मेरे जानै मिली मोहन सौं, अंचल पीक परी।
छूटी लट, टूटी नक बेसरी, मोतिनि की दुलरी।
हौं जानति हौं फौज मदन की लूट गई सगरी।
अरुन नैन, मुख सरद निसाकर, कुसुम गलित कबरी।
सूरदास प्रभु गिरधर के संग, सुरस समुद्र तरी।।

कार्य-व्यापार में व्यंजना का प्रयोग करके सौंदर्यात्मक वातावरण सृजन करने में सूर सिद्धहस्त हैं। कुब्जा के प्रति कहे गये यह शब्द चातुर्य में अपना सानी नहीं रखते—

हमको हौंस बहुत देखन की संग लिये कुब्जा पटरानी।
पहुंचाई ब्रज कौ दधि-माखन बड़ौ पलंग अरू तातौ पानी।।

व्यंजना का प्रयोग व्यंग्यार्थ और लक्षणा का प्रयोग लक्ष्यार्थ करके सौंदर्यानुभूति की रीति को सरस और सरल करके कवि ने एक चमत्कार ही कर दिया है। वाच्यार्थ अभिधा शक्ति का प्रयोग किया है। राधा-कृष्ण की सम्भोग लीला का वर्णन इसी शक्ति में किया गया है किन्तु लावण्यार्थ व्यंजना से भी सहायता ली गई है—

चोरी को फल तुमहिं दिखाऊ।
कंचन खम्भ, डोर कंचन की, देखो तुमहिं बधाऊं।
खंडौ एक अंग कछु तुम्हरौ, चोरी नाऊं मिटाऊं।
सूर स्याम चोरनि के राजा बहुरि कहां मैं पाऊं।।

प्रस्तुत चित्र में राधा ने कृष्ण को आलिंगनबद्ध किया हुआ है और वह अधर-रस पान करने को आतुर है। उरोजों, अधरों और भुजाओं की कंचनता (सरसता) वह व्यंग्य से समझाती है। चित्र से ही सौंदर्य टपक रहा है।

सूर को अभिधा ने सर्वाधिक श्रेय प्रदान कराया है। इसी के कारण सूरसागर प्रबन्ध बन सका है विशेषकर सौंदर्य का नाभिकेन्द्र—दशम स्कंध का पूर्वार्द्ध। सूरदास की अभिलाषा आत्माभिव्यक्ति को सरल और सरस शब्दों में व्यक्त करने की थी। तब ही तो सूर के सारे सौंदर्यात्मक चित्र सरस और सरल हैं। क्रीड़न, गोचारण, माखन चोरी, बकासुर वध और कालिय दमन लीला, गोवर्धन लीला, दावानल-पान लीला आदि लीलाओं में अभिधा ने ही शब्दचित्र प्रस्तुत किये हैं। चीर हरण लीला, दान लीला, मान लीला, रास लीला में स्वाभावोक्तियां हैं। सुख-विहार, युगल समागम, खंडिता प्रकरण तथा राधा की मान लीलाओं का सौंदर्य इसी शक्ति से रेखांकित किया गया है। विपरीत रति के वर्णन में तो अभिधा के बाण गोपनीयता की सीमा पार कर परे प्रदेश में प्रविष्ट हो जाते हैं—

जुगल जंघ जेहरि जराब की राजति परम उदार,
राजहंस गति चलति कृसोदरि, अति नितम्ब के भार।

पद में उपमा, उपमान और उनकी स्वाभाविकता तथा वर्णित सौंदर्य देखते ही बनते हैं। सच्ची एवं मार्मिक अनुभूतियों के कवि सूर को अलंकारों की आवश्यकता नहीं पड़ी। पदात्मक सौंदर्य ही सारी कमियों को दूर कर गया है—

डोलत बांकी कुंज गली।
बृज वनिता मृग सावक नयनी, बीनति कुसुम कली।
कमल बदन पर बिथुरि रहीं, लट कुंचित मनहुं अली।
अधर बिम्ब, नासिका मनोहर, दामिनी दसन छली।
नाभि परस रोमावलि राजति, कुच जुग बीच चली।
पृथु नितम्ब, कटि छीन, हंस गति जघन सघन कदली।
सूर सु मोहन लाल रसिक संग, बन घन मांझ रली॥

प्रस्तुत पद में अलंकार स्वतः ही कवि की प्रतिभा का अनुसरण कर रहे हैं।

रूपगत सौंदर्य में छंद विधान का अपना ही स्थान है। इस प्रकार के सौंदर्य निरूपण में संजीदगी और प्रवाह को ध्यान में रखकर सूर ने रासलीला के पद रचे हैं। चित्रात्मक सौंदर्य में प्राण डालने वाले निम्नलिखित पद में रासलीला का मनोहर चित्रण किया गया है। मृदुल पदन्यास करती हुई गोपियों की कभी तो सिर से ओढ़नी खिसक जाती है, कभी पुष्प-माला नीचे गिर पड़ती है; हार के मौक्तिक बिखर जाते हैं; कर्ण-कुंडल भी नीचे टपक पड़ते हैं; पैरों की गति से जब नूपुरों की कर्ण-प्रिय रुनझुन होती है तो कटि में लेटी हुई किंकिणी उसके साथ ताल मिलाकर समां बांध देती है। करतल से उत्पन्न सुन्दर तालिका, कंकण-ध्वनि, साथ ही मृदंग मुरज, मुरली प्रभृत्ति वाद्य बज रहे हैं। क्या सजीव वर्णन है। संगीतात्मक चित्र की प्रत्येक इकाई का इतनी बाराकी से वर्णन करने वाला प्रज्ञाचक्षु सूरदास सबको पीछे छोड़ गया है—

विराजत मोहन मण्डल रास।
स्यामा सुधा सरोबर मानो क्रीड़त विविध विलास॥
पृथु नितम्ब कर भोरू कमलपद, नखमनि चन्द अनूप।
मानहुं लुब्ध भयो वारिजदल, इन्दु किये दस रूप॥
चरन रूनित नूपुर कटि किंकिनी, कंकन करतल ताल।
मयु तिय-तनय-समेत, सहज सुख मुखरित मधुर मराल॥
बाजत ताल मृदंग बांसुरी, उपजति तान तरंग।
निकट बिटप मनु द्विज-कुल कूजत-बाढ़त प्रबल अनंग॥

राधा का या यों कहें कि सूर का सबसे बड़ा सौंदर्य है—कृष्ण प्रेम। इस सौंदर्य के निरूपण में सूर की पैनी दृष्टि सब कुछ देख लेती है। 'सुरति' के उपरांत राधा की क्या सूरत

हो गई है—

आलस अंग, मरगजी सारी, ऐसी छवि कहि कालिह कहां री।

सभी कुछ तो टूट गया—

छूटी लट, टूटी नक बेसरि, मोतिनी की दुलरी ।।

इस आलस्य की छवि में भी सौंदर्य है—

आलस भरि सोभित सुभामिनी।
बांह उचाय जोर जमुहानी, ऐंडानी कमनीय कामिनी।
भुज छूटें छवि यों लागी, मनु टूट भई द्वै टूक दामिनी ।।

सूर की सौंदर्य सिसृक्षा का प्रधान उद्देश्य यही रहा है कि उनके आराध्य अधिक से अधिक सुन्दर रूप में पाठकों तक सम्प्रेषित होकर पहुँच सकें। पौर्वात्य दर्शन के अनुसार ईश के मंगल स्वरूप 'सत्यं शिवं सुन्दरं' में सूर का मन 'सुन्दरं' को ही अधिक सुन्दर बनाने में रमा है क्योंकि भक्त सूर का विश्वास था कि सौंदर्य भक्ति का प्रथम सोपान है।

अकादमी डायरी

●

२१-४-७६ को जम्मू प्रदेश के पिछड़े एवं पहाड़ी क्षेत्र सुरनकोट में, प्रकृति की मनोरम छटा को दृष्टिगत रख कर एक ''ग्रामीण मुशायरे'' का आयोजन किया गया। इस कवि-सम्मेलन में जिन कवियों ने भाग लिया, उनके नाम इस प्रकार हैं—सर्वश्री हकीम मंज़ूर, मंज़र आज़मी, आबिद मनावरी, दीना नाथ रफ़ीक़, अब्दुल रशीद फ़िदा, जी० एन० शाहबाज़, फ़ारूक़ मुज़तर, ख़ुर्शीद बिस्मिल, मुहम्मद शफ़ी ज़फ़र, सत पाल, हिसाम-उल-दीन बेताब, मुहम्मद सईद, साबिर हुसैन कुरैशी, खुशदेव मैनी, 'महमूद', मुहम्मद अयूब शबनम, बशारत हुसैन शाह, नज़ीर हुसैन कुरैशी।

●

२५-६-७६ को जम्मू नगर के निकट एक गांव घगवाल में एक ''रूरल मुशायरे'' का आयोजन किया गया जिसमें डोगरी एवं पंजाबी के निम्नलिखित कवियों ने भाग लिया—सर्वश्री देसराज दानिश, कुलदीपसिंह जिन्द्राहिया, शिव राम दीप, सुदर्शन रत्नपुरी, सीता राम सपोलिया, दुर्गा दास गुप्ता, हेम राज ठप्पा, अमर सिंह आदिल, संत राम संत, पी० एन० बाली, चन्दू लाल योगी, पी एन० शर्मा, धर्म पाल शर्मा, हंस राज, मोहन लाल शर्मा, छज्जू राम, घनश्याम, ध्रुव सिंह।

भारतीय साहित्य एवं संस्कृति के मर्मज्ञ

डॉ० हजारी प्रसाद द्विवेदी

के असामयिक निधन से भारतीय साहित्य की जो क्षति हुई है—वह अपूरणीय है। शीराज़ा परिवार की उन्हें भावभीनी श्रद्धांजलि।

पुस्तकें और पुस्तकें

सेतुओं की खोज[1], डॉ० ओम प्रकाश गुप्त की विविध अनुभूतियों और विचार कणों को व्यक्त करता है। आजके मध्यवर्गीय बुद्धिजीवी का आक्रोश, आशा, निराशा, प्रतिबद्धता, नये स्वप्नों को देखने वाली आंखों के जो तेवर नवलेखन में प्रकट हो रहे हैं वही सब कुछ यहां भी दिखाई पड़ता है।

'एक अनुभूति', 'कितने अंतराल के बाद', 'बोध हीन' कविताएं बदली हुई मनःस्थिति को प्रणय के सन्दर्भ में प्रस्तुत करती हैं। शृंगार गीतों की परम्परा में ही 'व्यथा निवेदन', 'तुम्हारी याद' शीर्षक वाले गीत आते हैं। इनमें कुंठा-संत्रास की अभिव्यक्ति ही अधिकांशता मिलती है। बौखलाहट, खीज, कुछ न कर पाने की असहायता आज के रचयिता का युगधर्म बन गया है उसी के दर्शन इस संकलन में होते हैं। कहीं-कहीं नये सवेरे की प्रतीक्षा है। कविताओं के इस भीड़ भरे माहौल में 'सेतुओं की खोज' कोई अपनी अलग पहचान बनायेगा, या बनाये रखेगा, इसमें सन्देह ही है। फिर भी युग की आवाज को, जो प्रायः मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों को सुनाई पड़ती है, वाणी देकर कवि-कर्म के उत्तरदायित्व का निर्वाह तो किया ही गया है।

—डॉ० कृष्ण चन्द्र गुप्तः
एस० डी कालेज
मुजफ्फरनगर (उ० प्र०)

---

१. **सेतुओं की खोज** (कविताएं) / कवि : डॉ० ओम प्रकाश गुप्त / प्रकाशक : युवा हिन्दी लेखक संघ, ढक्की सराजां, जम्मू / पृष्ठ : ७८ / मूल्य : बारह रुपये / आकार : डिमाई।